# सामयिक वार्ता

अगस्त 2016 ❐ मूल्य : 20 रुपए

## आजादी के बाद का सबसे गलत फैसला

- ☐ शब्दों की चौकीदारी संभव नहीं
- ☐ आपसी सौहार्द बनाम कैशलेस
- ☐ अनुपम मिश्र
- ☐ भाषा का सवाल व सामाजिक न्याय
- ☐ मुस्लिम औरतें : बदलाव की माँग
- ☐ साथी सुभाषचन्द्र उपाध्याय

# रोहित वेमुला की मुस्कान

मैंने तस्वीर हटानी चाही कई बार रोहित वेमुला
की अपनी दीवार से।
लेकिन हिम्मत नहीं कर पाया उसकी ओर
हाथ बढ़ाने की।
हर बार लगता है यह बेईमानी होगी।
वह लेखक बनना चाहता था, उम्र में मुझसे
छोटा भी था।
मैं पेशेवर लेखक हूँ, उम्र में उससे बड़ा हूँ।
प्रतिस्पर्धा के भय में जीता हूँ।
और वह निर्भय हो कर मुस्कुराता था।
आख़िर नियम के विरुद्ध वह कैसे मुस्कुराता था,
जबकि एक लेखक के रूप में हमने उसे सिर्फ़
एक सुसाइड नोट ही लिखने का मौका दिया।
अपने सुसाईड नोट में उसने रची पहली बार
एकलव्य की महाभारत।
जो सीधे गिरी जाकर व्यास के रास्ते पर और
व्यास चुप हैं।
मनु के कमरे में दरवाज़े से कोई सरका गया
और मनु स्तब्ध हैं।
हस्तिनापुर अपनी बौखलाहट में पूछ बैठता है-
दलित तो बहुत से हैं, हर कोई आत्महत्या तो
नहीं करता ?
वह फिर भी मुस्कुरा रहता है अपनी तस्वीर में
और हमारी झुंझलाहट बढ़ाता है।
दलित बहुत सारे हैं, उन्हें आत्महत्या का मौका
भी नहीं मिलता।
वे सपना देखने के पहले ही मार दिए जाते हैं।
और जो सपना देखने की हिम्मत जुटाते हैं उन्हें
पूरी तैयारी से मार दिया जाता है।
फाँसी के फंदे मज़बूत होने चाहिए, यह निश्चित
किया जाता है।
उसकी मुस्कुराती आँखें किसी पर उंगुली नहीं उठातीं,
पर हमारे लिए और कोई विकल्प भी नहीं छोड़तीं।
हम या तो उसकी आँखों का सामना करें।
या उसको मुस्कुराता छोड़ कर सामने से हट जाएँ।

**–फ़रीद ख़ाँ**

# सामयिक वार्ता

**अगस्त 2016, वर्ष 39 अंक 11-12**



**संस्थापक संपादक :** किशन पटनायक

**संपादक मंडल**

सच्चिदानंद सिन्हा,
कमल बनर्जी, अफलातून, संजय भारती,
बाबा मायाराम, चंचल मुखर्जी (संयोजक)

**संपादन सहयोग**

लोलार्क द्विवेदी, संजय गौतम, प्रियदर्शन
अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन
अरुण कुमार त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव
महेश विक्रम सिंह

**प्रबन्ध सहयोग :** नीता चौबे

**परामर्श मंडल**

योगेन्द्र यादव, स्मिता, कश्मीर उप्पल

**अक्षर संयोजन :** गौरीशंकर सिंह


**आवरण चित्र :** प्रसिद्ध कार्टूनिस्ट **आर.के. लक्ष्मण** के व्यंग्य चित्र के आधार पर।


खाता नाम - सामयिक वार्ता
या Samayik Varta
बैंक ऑफ बड़ौदा (Bank of Baroda)
शाखा - सोनारपुरा, वाराणसी
Sonarpura, Varanasi (U.P.)
खाता संख्या **40170100005458**
**IFSC Code : BARB0SONARP**
(यहाँ दूसरे B के बाद जीरो है, ओ नहीं
S के बाद O (ओ) है।)
**MICR CODE : 221012030**
इस खाते में पैसा जमा करने तथा ग्राहक के पते की सूचना
इ-मेल अथवा मोबाइल-08765811730/ 08004085923



**कार्यालय**
**डी. 28/160, पाण्डे हवेली, वाराणसी-221001**
फोन : 08004085923 (संपादन),
08765811730 (प्रबंध)
e-mail- varta3@gmail.com


## इस अंक में


4 आजाद भारत का सबसे गलत फैसला
अरविन्द मोहन

9 नोटबंदी एक मूर्खतापूर्ण कदम
प्रो अरुण कुमार

आपसी सौहार्द का अर्थशास्त्र बनाम कैशलेस
भारत डोगरा

आपसी सौहार्द कैशलेस
भारत डोगरा

15 नोटबन्दी के हमले से जनता की सुरक्षा ...
चन्द्रभूषण चौधरी

16 वे प्रलोभनों के पार थे
प्रियदर्शन

19 शब्दों की चौकीदारी संभव नहीं

21 ये क्या हाल बना दिया
फिदेल कास्त्रो

22 नफरत से टकराना यानी रोहित वेमुला
नासिरुद्दीन

24 मुस्लिम औरतें : बदलाव की ऐतिहासिक माँग
ज्योति पुनवानी

29 नर-नारी समता और निजी कानून
डॉ0 स्वाति

33 खादी की बरबादी
अफलातून

35 भाषा का सवाल व सामाजिक न्याय

41 नई राजनैतिक संस्कृति का ताजा सन्दर्भ

43 माइक्रोफाइनेन्स का भ्रमित अर्थशास्त्र-3
बलबीर जैन

46 कहानी और उपन्यास की उपयोगिता
अशोक सेकसरिया

49 पुस्तक समीक्षा सीताराम सिंह
नवीन

क्या मोदी बने तुलगक?
आनन्द कुमार यादव



**सदस्यता शुल्क :** एक प्रति : 20/-, वार्षिक शुल्क : 150/-, संस्थागत वार्षिक शुल्क : 200/-
पाँच वर्षीय शुल्क : 600/-, आजीवन शुल्क : 2000/-

सम्पादकीय

# आजाद भारत का सबसे गलत फैसला

भाजपा की पिछली सरकार में मंत्री रहे अरुण शौरी का मानना है कि नोटबन्दी आजाद भारत का सबसे खराब और नुकसानदेह फैसला है। उनसे आम तौर पर सहमति नहीं रखी जा सकती क्योंकि वे उसी भूमंडलीकरण मुहिम के सबसे बडे पैरोकारों में रहे हैं जिसने देश और दुनिया को भारी नुकसान पहुंचाया है और खतरनाक स्तर की गर बराबरी बढाकर कमजोरों और गरीबों का जीना मुश्किल किया है। पर इस मसले में उनसे असहमत होना मुश्किल है। और शायद एक ही और फैसला-आपातकाल घोषित करने का, इसके कहीं बराबर आ सके। पर तब के बारे में यह खा जा सकता है कि उस फैसले से कुछ लोग अप्रभावित रह गए होंगे और आपातकाल बीतते ही उसके मूल्यांकन और ज्यादतियों-कष्टों की चर्चा वाली किताबों और लेखों की बाढ आ गई थी। आज हालत यह है कि मीडिया का अधिकांश हिस्सा तो इस कदम के गुणगान में लगा है, कोई बडा अर्थशास्त्री मुन्ह खोलने को तैयार नहीं है। विपक्ष बिना आपातकाल के ही घुटने टेके हुए है और अगर किसी मायावती, किसी केजरीवाल और लालू यादव ने मुन्ह खोला भी है तो उनका बाजार भाव इतना नीचे है कि उससे नरेन्द्र मोदी के इस फैसले को विश्वसनीयता ही मिली है। विपक्ष नैतिक बल से हीन तो है ही लोग कालेधन, भ्रष्टाचार, आतंकवाद की फंडिंग और नकली नोट की समस्या से इस तरह ऊबे हुये हैं कि उन्हे लगता है कि जब कोई कुछ नहीं कर रहा था और सब लूटने में लगे थे तो अकेले मोदी ने 'साहस' दिखाया है और हमें ठोडी तकलीफ हो तब भी उन्हे समर्थन देने में हर्ज नहीं है। उनकी मंशा तो अच्छी है।

अब मोदी की मंशा को परखने का तो कोई ठोस पैमाना नहीं हो सकता। पर जिन चार कारणों को गिना कर उन्होने खुशखबरी के अन्दाज में नोटबन्दी की घोषणा की थी उनमें से कोई भी एक पूरा हुआ नहीं लगता या किसी के भी पूरा होने के हालात नहीं दिखते। सत्तर से अधिक बदलावों से पैदा अनिश्चितता और कई किये हुए वायदों से मुकरने के सरकार और रिजर्व बैंक की बेशर्मी के बावजूद शुरौआती हफ्ते में ही आतंकवादियों के पास से नकली नोट निकलने, भयंकर घूसखोरी से कालाधन सफेद कराने का नंगा नाच होने, बहुत ही कम नकली नोट निकलने के साथ ही सरकार के सारे दावे ध्वस्त हो गए। और हालत यह हो गई कि जो रिजर्व बैंक पहले रोज वापस आए पुराने नोटों की मात्रा की घोषणा कुछ इस अन्दाज में कर रहा था मानो कालाधन आने लगा है वह प्रधानमंत्री द्वारा की गई पचास दिन में सब कुछ ठीक होने की सीमा पास आने के साथ ही वह साप्ताहिक घोषणा भी भूल गया है कि अभी उसके खजाने में कितने पुराने नोट आ गए हैं। और यह अनुमान कई तरफ से आ चुका है कि रिजर्व बैंक के पास 31 दिसम्बर तक लगभग 97 फीसदी पुराने 500-1000 के नोट वापस आ चुके हैं। अभी सीधे रिजर्व बैंक में पुराने नोट जमा कराने की सीमा 31 मार्च है और कई सरकारी विभाग अपने पास पडे पुराने नोट जमा कराने वाले हैं-जिलों की ट्रेजरी में जब्त पडे नोट भी काफी होंगे।

अगर आधा फीसदी से भी कम नकली नोट निकले, अगर जमा रकम का एकाध फीसदी ही सन्देहास्पद/कालाधन लग रहा है, अगर आतंकियों तक फिर से नए नोट पहुंचाने वाला नेटवर्क बचा ही हुआ है, अगर बीस फीसदी की दर से काला-सफेद का खेल इस मुश्किल दर में चलाने वाली व्यवस्था मजे से काम कर रही थी, तब इस फैसले की क्या जरूरत थी। जाहिर है इतने मोर्चों पर तैयारी करने स एकोई फायदा होता, पर यहाँ तो नोट छाप लेने और एटीएम को नए नोटों के अनुरुउप दुरुस्त कर लेने वाला बुनियादी काम भी नहीं हुआ। पूरे युरोप में जब सारी पुरानी करेंसी हटाकर युरो लागू किया गया तो किसी भी देश से और किसी भी जगह से नोट बदलने में परेशानी की शिकायत सुनाई नहीं दी। एक-दो दिन कुछ जगहों पर लाइन लगने की खबरें आईं पर उसे तुरंत निपटाने के उपाय भी हुए। यहाँ तो फौज लगाकर, वायुसेना की मदद लेकर भी कोई नतीजा नहीं निकला। बल्कि इसी मारामारी में यह खबर भी आई कि जब प्रधानमंत्री कानपुर और बनारस के चुनावी दौरे पर गए तब उस तरफ के सारे एटीएम मशीन नए नोट से लबालब कर दिये गए। अब इस स्तर की चिरकुटई के लिये समय हो,

समझ हो और पूरे देश और आम लोगों की चिंता न हो तो क्या कहा जाएगा। और अब यह अनुमान आ रहा है कि नोट बदलने के इस अभियान पर करीब डेढ लाख करोड का खर्च सरकारी खजाने पर पडा है। तीस हाजार करोड से ज्यादा का खर्च तो नए नोट छापने पर ही आया है।

निश्चित रूप से इस बेवकूफी से हर आदमी सीधे कम या ज्यादा परेशान हुआ। अगर नाटक के तौर पर ही सही किसी राहुल गान्धी को कतार में खडा दिखाना पडा हो या प्रधान मंत्री की माँ को, पर आम तौर पर बडे लोग सीधे नोट बदलते या पुराना नोट जमा कराते नहीं दिखे, पर बाकी कोई नहीं बचा। और लोगों की परेशानियों का रिकारड तो सैकडों के लाइन में मरने तक गया है। अब यह परेशानी कुछ कम हुई है। पर अर्थव्यवस्था को कितना नुकसान हुआ है यह अनुमान लगाने को कोई तैयार नहीं है। सरकार ने खुद विकास दर में आधी फीसदी कमी आने का अनुमान किया है तो अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष एक फीसदी और पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिन्ह दो फीसदी कमी की भविष्यवाणी कर चुके हैं। पर यह सब ऊपरी और मोटा अनुमान है। अगले साल क्या असर होगा वह अलग गिनती है। पर सबसे बडा झटका तो उस असंगठित क्षेत्र को लगा है जो इस अर्थव्यवस्था की रीढ रहा है और जिसमें बैंक खाता, कार्ड से भुगतान और कैशलेस कारोबार का नाम तक नहीं सुना गया था। और बेशर्मी यह की कि जैसे ही नोटबन्दी की असफलता के लक्षण दिकह्वे लगे प्रधान मंत्री समेत पूरी भाजपा और संघ परिवार कैशलेस इकानामी की बात करने लगा। और यह बात कुछ ऐसे अन्दाज में कही गई मानो नोटबन्दी का उद्देश्य कैशलेस इकानामी लाना ही था।

मंशा की बात ऊपर कही गई है और सच पूछिये तो अभी तक यह बात साफ नहीं हुई है कि नरेन्द्र मोदी ने यह फैसला क्यों किया और फिर अनुचित ढंग स एरिजर्व बैंक के ऊपर क्यों थोपा। एक मान्यता है कि उन्हे कालेधन की मात्रा और नोटबन्दी से न लौटने वाले धन का गलत अनुमान बताया गया था। उनके सलाहकारों ने, जिसमें एक अनाम कुल-गोत्र वाली संस्था भी है, शायद यह बता दिया था कि अगर साढे पन्द्रह लाख करोड के बडे नोट बन्द किये गए तो कम स एकम बीस फीसदी रकम अर्थात तीन लाख करोड से ज्यादा रकम नहीं लौटेगी। बैंक के जो नोट नहीं लौटते उन्हे बैंक का मुनाफा मान लिया जाता है। प्रधान मंत्री को यह लगा होगा कि अगर तीन-चार लाख करोड रुपए अतिरिक्त हाथ आ गए तो फिर उसे बांटकर काफी दाएँ-बाएँ किया जा सकता है। साथ ही कालाधन पकड में आया तो भी सरकारी खजाना भरेगा ही। पर ये सारी मान्यताएँ बेकार निकलीं। और जब सरकार स्विस बंक के खाताधारकों के हाथ आए नाम जाहिर करना नहीं चाहती, उनके खिलाफ ढाई साल में कोई कदम नहीं उठा सकी, भ्रष्टाचार के उस किसी भी मामले को परवान नहीं चढा सकी जिसका नाम लेकर उसने चुनाव जीता था, अपनी पार्टी के भी एक भी भ्रष्ताचारी को सजा देने की कौन कहे, किनारे करने का काम नहीं कर सकी तो उससे क्या उम्मीद की जाए। और अगर उसका खुफिया नेटवर्क या आयकर विभाग इतना ही चौकस होता तो इतना सारा काला धन बनता कैसे। और फिर उसे यह भी पता नहीं है कि आज करेंसी में कालाधन रखना पिछडेपन की निशानी है। ।

मामला हर किसी के नोट बदलने और एटीएम के लाइन में लगने भर का नहीं है और अगर अपने पैसे को निकालने के लिए आपको दिन भर का वक्त, दो-चार फोटोकापी, कुछ गुटखा, कुछ चाय खपाना पडे और कभी दो हजार तो कभी ढाई हजार भर की नकदी मिले तो इससे कितनी आर्थिक गतिविधियाँ चलेंगी इसका सहज अनुमान हो सकता है। और नकदी के संकट में कौन कौन बाजार बन्द है और कौन आर्थिक गतिविधि मन्द हुई है यह हिसाब लगाना यहाँ जरूरी नहीं है। पूरा का पूरा असंगठित क्षेत्र तो पस्त हुआ ही है अब खतरा यह है कि कैशलेस के नाम पर माल, ब्रांडेड सामान, विदेशी माल और करखनिया सामान शहर-गांव, अमीर-गरीब, संगठित-असंगठित का फासला ज्यादा तेजी से बढाकर कमजोर, गरीब, ग्रामीण और कम पढे-लिखे लोगों की दरिद्रता को और तेजी से बढाएंगे। मजे की बात यह है कि नोटबन्दी के बाद मोदी जी ने गरीबों की बात ज्यादा जोर-शोर से शुरु की है-चोर मचाए शोर की तरह। पर अगर नोट कम आएंगे या अभी कुछ दिन कम रहेंगे, आर्थिक गतिविधियाँ डंवाडोल रहेंगी तब कैसे अर्थव्यवस्था आगे बढेगी और साफ होगी यह समझना मुश्किल है। प्रधान मंत्री को तो उन आम लोगों का एहसानमन्द होना चाहिये जो एक-दूसरे पर भरोसा करते हुए सामान का लेन-देन और पुराने नोट भी ले-देकर कामकाज ठप्प नहीं होने दे रहे थे। जो दूसरे का पुराना नोट लेकर सब्जी दे रहा था, राशन दे रहा था या कोई सेवा दे दे रहा था वह न तो कालाधन का पोषक है न अनिवार्यतः देशद्रोही।

और दूसरा बडा सवाल है कि अगर सरकार की, आर्थिक निगरानी शाखाओं की, आयकर विभाग के लोग पहले ही कितना तत्पर रहे हैं उसका ही प्रमाण आज की कालेधन की समस्या ही नहीं होती। कल तक ये लोग क्या-

क्या कारगुजारियाँ करते होंगे इसका एक अन्दाजा तो बैंकों में हुये खेल में समझ में आया जब पुरानए नोट को बदलने का अधिकार मैनेजरों और कर्मचारियों को मिला। कितने नकली खाते खुले, कितनी रकम इधर उधर हुई, यहाँ तक कि बैंक की लाइन में आगे करने के लिये घूस लिये गए यह सबने देखा। सो सब्के मन में यह सवाल आया कि और सरकार नोट तो बदलवा रही है क्या वह अपनी इस मशीनरी को भी बदलेगी। अगर वही मशीनरी रही तो आगे सब कुछ ठीक हो जाएगा यह गारंटी कौन देगा। और आज यह बात बार-बार कही जा रही है कि सभी ज्वेलरों पर नजर रखी जा रही है, बैंक के हर बडे लेन-देन पर नजर रखी जा रही है तो क्या यह सब काम पहले नहीं होता था। और क्या सरकार के पास कालाधन रखने वालों के बारे में कोई जानकारी ही नहीं है। संसद आने पर अपने चुनाव खर्च का ब्यौरा ही कितने लोग सही दे रहे हैं या गलत यह सरकार को जरूर मालूम होगा। अगर पहले की कोई भी सूचना थी तो कितने लोगों के खिलाफ कार्रवाई हुई है। और उन्ही पर कार्रवाई करने की जगह सरकार सभी लोगों को क्यों मार रही है- सर्जिकल स्ट्राइक की जगह कारपेट बाम्बिंग क्यों की जा रही है।

फिर तीसरा बडा सवाल यह है कि कालाधन कैश में कितना रखा जा रहा है। व्यावहारिक अनुभव के आधार पर तो यही लगता है जो होशियार लोग हैं वे आज कैश में कम ही भरोसा रखते हैं। इलेक्ट्रानिक मनी में भी कालाधन सर्कुलेट होता है पर ज्यातर कालाधन रखने वाले कैश कम ही रखते हैं। कालाधन के खिलाफ पडे छापों की रिकवरी के पुराने आंकडे बताते हैं कि रिकवरी में नकदी का हिस्सा छह फीसदी से भी कम होता है। और यह माना जा सकता है कि सभी होशियार कालाधन न रखते हों पर कालाधन रखने वाले सभी होशियार ही होंगे। सो उनमें से कुछ ही बुडबक होंगे जो अब भी बोरियों में नोट रखने का शगल रखते होंगे। और यह बात शायद अब प्रधान मंत्री भी महसूस करने लगे हैं तभी वे काला धन निकालने की और योजनाएँ लाने की बात करने लगे हैं। बेहतर होता पहले दूसरे काम कर लिए जाते और फिर भी कालाधन न निकलता या दिखता रहता तब नोटबन्दी जैसा फैसला लिया जाता।

चौथा मसला इलेक्ट्रानिक लेन-देन की सुरक्षा, उसकी सुविधा, उसके लिये जरूरी इंफ्रास्ट्रक्चर और कम पढे-लिखे लोगों के हितों का ध्यान रखने का है। यह लेन देन और भी ज्यादा असुरक्षित है और अपने यहाँ के तीसेक लाख डेबिट कार्ड के आंकडे चोरी होने की खबर से पूरा धन्धा ही सन्दिग्ध हो जाता है। उधर देश में सिर्फ इसके लिए जरूरी इंफ्रास्ट्रक्चर की ही कमी नहीं है इसके लिये जरूरी कानूनों और उसकी शिकायतें निपटाने वाले तंत्र का सर्वथा अकाल है। आम आदमी, गरीब आदमी को अगर बैंक और बिजली जैसी चीजें ही नहीं नसीब हैं तो उनको कार्ड से लेन-देन की बात करना ब्रेड न होने पर केक खाने की सलाह देने जैसा ही है।

यह सही है कि मीडिया ने मोदी राग और उसमें भी नोटबन्दी के समर्थन का राग काफी अलापा पर धीरे-धीरे वह भी लोगों की तकलीफें दिखाने से बच न सका। उससे लग रहा था कि मोदी जी ने पचास दिन का जो समय मांगा था उस अवसर पर अच्छी समीक्षा हो जाएगी। पर नोटबन्दी के पचास दिन की चर्चा को तो मुलायम सिंह और अखिलेश यादव की लडाई ने काफी हद तक ढक दिया और फिर नए साल पर पिछले साल की समीक्षा के कार्यक्रमों ने नरेन्द्र मोदी के किसी चौराहे पर सजा देने की घोषणा को नतीजे तक नहीं पहुंचने दिया। पर, अब चारों ओर से जो आंकडे आने लगे हैं वे अपने आप इस बडे कदम की समीक्षा करने लगे हैं। विकास दर में गिरावट, किसानों की आत्महत्या के रिकार्ड आंकडे, बैंकों से कर्ज उठने का आंकडा 13 साल के रिकार्ड निचले स्तर तक पहुंचने के बाद करखनिया उत्पादकों के सबसे बडे संगठन आल इंडिया मैन्युफैक्चरर्स आर्गेनाइजेशन द्वारा राजस्व में पचास फीसदी गिरावट और रोजगार में 35 फीसदी गिरावट का आंकडा दिया गया तब वित्त मंत्री अरुण जेतली को मुन्ह खोलना पडा। उन्होने प्रत्यक्ष कर के संग्रह में 12।01 फीसदी और अप्रत्यक्ष करों की वसूली में 25 फीसदी वृद्धि का दावा करते हुये इसे नोटबन्दी का सफल प्रभाव करार दिया। उन्होने जो आंकडे दिये उसमें उत्पाद शुल्क में 43 फीसदी , सीमा शुल्क में 4।1 फीसदी और सर्विस टैक्स में करीब 24 फीसदी की वृद्धि बताई गई है।

वित्त मंत्री न बोलते तो एकतरफा आंकडों से तस्वीर अलग दिख रही थी। अब निश्चित रूप से उन अर्थशास्त्रियों को इन आंकडों की व्याख्या करके ही आगे बढना होगा और उत्पाद शुल्क और सेवा कर में वृद्धि का मतलब तो कामकाज बढना ही होगा। इन आंकडों पर सवाल उठेंगे पर यह नहीं कहा जा सकता कि नोटबन्दी से बैंक में आई अघोषित आमदनी पर कर वसूली बढने, पुराने नोट से सम्पत्ति कर और दूसरी सरकारी देनदारियाँ निपटाने की छूट के चलते जिस तरह सरकार के कई विभागों के खजाने में ज्यादा रकम आ गई है उसी तरह इन मदों वृद्धि

से ही यह आंकडा बना है। पर कहीं न कहीं झोल जरूर है क्योंकि अन्य जो अध्ययन या जानकार अनुमान आए हैं या लोगों के प्रत्यक्ष अनुभव यही बताते हैं कि नोटबन्दी से आर्थिक कामकाज प्रभावित हुआ है। और अगर कोई धनात्मक बदलाव दिखता है तो वह कार्ड के भुगतान, कैशलेस अर्थव्यवस्था वाले कामकाज और कुछ करों की वसूली में हो सकता है। बल्कि शहरी असंगठित क्षेत्र के रोजगार में कमी के चलते बडे पैमाने पर मजदूर वापस गांवों की तरफ गए हैं और अब मनरेगा के तहत काम की मांग फिर से बढने की खबर आंकडों समेत आने लगी है।

वित्त मंत्री के ये आंकडे थोडा चौंकाते हैं तो इसलिये भी कि अभी तक सरकार और इसकी शीर्ष एजेंसियाँ नोटबन्दी का प्रभाव बता सकने वाले आंकडे छुपा रही थीं। रिजर्व बैंक ने तो हर हफ्ते अपने खजाने में करेंसी के पोजिशन बताने वाला नियमित आंकडा 10 दिसम्बर के बाद जारी ही नहीं किया है। और नोटबन्दी के शुरु में यही रिजर्व बैंक लगभग रोज यह बताता था और सारे टीवी चैंनल और अखबार यह दिखाते थे कि आज कितना पुराना नोट बैंकों में आ गया है। यह आंकडा ऐसे दिखाया जाता था जैसे यह सब कालाधन लौट रहा है। सरकार की तरफ से अब जो संकेत आ रहे हैं उससे तो लगता है कि नोटबन्दी से कितना पुराना नोट लौटा है इसकी पक्की सूचना आने में छह महीने का समय लग सकता है। दूसरी ओर ब्लूमबर्ग जैसे बिजनेस ग्रुप का अनुमान है कि लगभग 97 फीसदी पुराने नोट वापस आ गए हैं जबकि अभी कुछ वसूली हुई रकम रिजर्व बैंक में नहीं पहुंची है और अभी भी रिजर्व बैंक में जेनुइन कारण बताकर तीन महीने तक पुराने नोट जमा कराए जा सकते हैं। वैसे प्रधान मंत्री की इस घोषणा पर रिजर्व बैंक अभी मनमानी व्याख्या करके काफी लोगों को लौटा रहा है पर इसमें भी कब बदलाव आए यह कहना मुश्किल है।

पर नोटबन्दी में यही अकेली बेइमानी नहीं है। सरकारी अनुमान से कहीं ज्यादा पुराने नोट लौटने और कालाधन पकड में न आने, नकली नोट की बाढ पर रोक न लगने, आतंकवाद की कमर न टूटने तथा भ्रष्टाचार पर प्रहार( और दाउद इब्राहिम जैसों की आफत न आने) जैसे दावों को भुला भी दें और सरकारी पक्ष द्वारा नोटबन्दी की जगह कैशलेस इकानामी के अभियान को बढावा देन की चालाकी को छोड भी दें तो ऐसी-ऐसी चिरकुटई सामने आई है कि उन्हे शर्मनाक भी कहना कम लगता है। प्रधान मंत्री कानपुर गए तो वहाँ के सभी एटीएम में लबालब कैश भरवा दिया गया, बनारस गए तो वहाँ की नगदी की तकलीफ खत्म हो गई, चुनाव वाले राज्यों का खास खयाल नई करेंसी एक बंटवारे में दिखता है। और इनसे तो ओवैसी जैसे नेताओं के ये आरोप भी सच लगने लगे कि मुसलमानों वाले इलाके के बैंकों और एटीएम में कम नए नोट भेजे जा रहे हैं। नए नोट छापने और भूलों, नकली नए नोट आने, बैंकों की गडबड, हवाला का धन्धा, गडकरी और रेड्डी बन्धुओं जैसों के यहाँ के भव्य आयोजनों में कैश की किल्लत न होने, आतंकी जमातों के पास नए नोट पहुंचने जैसी न जाने कितनी ही खबरें हैं जो नोटबन्दी, सरकारी तैयारी और कामकाज को बताने के लिये काफी हैं। फिर पूरे देश के लोगों को हुई तरह-तरह की परेशानियों और लाइन में हुई मौतों का मामला अलग है। और जब साल के आखिरी दिन तथा अपनी घोषणा के पचास दिन पूरे होने पर प्रधानमंत्री राष्ट्र से मुखातिब हुये तब उन्होने न तो नोटबन्दी की कोई समीक्षा पेश की न इन मौतों/तकलीफों के लिये माफी भी मांगी।

पर जो खबरें शुरु में विदेशी संस्थाओं और करेंसी की अर्थव्यवस्था के जानकारों की तरफ से आलोचना की आ रही थीं अब स्थानीय सर्वे और आद्योगिक संस्थानों की तरफ से भी आने लगी हैं। पहले बडे नोट, दो हजार के, को कालाधंके अनुरूप बताने और छोटे नोट लाने जैसी चूकों पर ज्यादा चर्चा हुई पर अब तो असंगठित क्षेत्र और छोटे उद्योग-धन्धों के मरने, माल और आनलाइन कारोबर बढने, गांव-शहर का फासला तेजी से बढने, किसानों और खेती की हालत तेजी से खराब होने जैसी भविष्यवाणियाँ भी की जाने लगी हैं। पीएचडी चैम्बर्स आफ कामर्स का सीधा निष्कर्ष है कि नोटबन्दी से जनता और उद्योग दोनों बेहाल हुए हैं। परचेज मैनेजर्स इंडेक्स के अनुसार सर्विस सेक्टर में बिजनेस घाटा बढा और नए आर्डरों में कमी आई। क्रिसिल के अनुसार चालू वित्त वर्ष के अंत तक अगर नोटों की समस्या खतम भी हो गई तो कई क्षेत्र पिछडे ही रहेंगे। देश की शीर्ष दस मूल्यवान कम्पनियों में से छह के बाजार पूंजीकरण में गिरावट है। उत्पादक संघ के जिस सर्वे की चर्चा पहले की गई है उसके अनुसार सडक निर्माण जैसे कामों में रोजगार 35 फीसदी तक कम हो गया है, निर्यात के लिये उत्पादन में लगे कारखानों में रोजगार 30 फीसदी गिरा है तो राजस्व में 40 फीसदी की गिरावट देखी गई है।

जहाँ तक नोटबन्दी के सीधे असर की बात है तो कालेधन और भ्रष्टाचार से परेशान देश के लोग इस एक बडे कदम से खुश लगे तो कोई हैरानी की बात नहीं थी

क्योंकि पहली बार कोई सरकार इस मसले को इतने बडे पैमाने पर निप्टाने की दिलेरी दिखा रही थी। पर जैसे-जैसे अपना अनुभव, आसपास की आर्थिक गतिविधियों पर असर और जानकारों की राय आने लगी शक बढने लगा। यह मोदी की चूक से भी ज्यादा मंशा की तरफ भी शक बढाने लगा। और अब हालत यह है कि मुट्ठी भर सरकारी अर्थशास्त्रियों के अलावा कोई इसके पक्ष में बोलने को तैयार नहीं है। और अगर वित्त मंत्री अपनी सरकारी ड्युटी के तहत बोल भी रहे हैं तो कोई अन्य मंत्री और रिजर्व बैंक के गवर्नर महाराज भी मुन्ह खोलने स एबचते ही रहे हैं। भाजपा के लोगों को अमित शाह और मोदी जी बार-बार लोगों के बीच जाने को कह रहे हैं पर वे कहाँ मुन्ह छुपाकर बैठे हैं यह कोई भी देख सकता है। उन्हे डर है कि कहीं नोटबन्दी उनकी राजनीति और चुनाव को न चौपट कर दे।

नरेन्द्र मोदी भाग्यशाली नेता हैं कि उन्हे इतने पक्के समर्थक मिले हैं जो बडे नोट बन्द करने की अचानक हुई घोषणा से हो रही सारी परेशानियाँ भूलकर इसे अर्थव्यवस्था और समाज के लिए अच्छा कदम मानकर उन्हे शाबाशी दे रहे हैं। ये सभी संघी हैं या किसी स्वार्थ से समर्थन कर रहे हैं यह कहना गलत होगा। मीडिया और मोदी समर्थकों को छोड देन तो भी यह देखकर मोदी प्रसन्न होंगे कि उनके ज्यादातर धुर विरोधी भी शुरु में इस कदम को साहसिक बता रहे थे और नीतीश कुमार से लेकर चन्द्र बाबू तक अभी भी समर्थक बने हुए हैं। और विरोध करने वालों में मायावती जैसे कुछेक लोग ही होंगे जिन्हें आम आदमी काले धन से जुडा मानता है वरना ऐसे लोगों की पूरी फौज भी मोदी के फैसले के पीछे खडी दिखती है जिन पर पनामा लीक्स समेत काले धन के कितने ही मामले चले हैं या चल रहे हैं। हमारी पूरी फिल्म इंडस्ट्री वाह-वाह करने में लगी है, पूरा वकील समाज वाह-वाह कर रहा है। रियल स्टेट कारोबारी इसे सही करार दे रहे हैं जबकि इन समूहों का काले धन से क्या रिश्ता है, सब जानते हैं। और जो मोदी भक्त वाह-वाह कर रहे हैं उनमें से कौन गान्धीवादी या आर्यसमाजी मूल्य वाला है यह देखने की जरूरत भी नहीं है जो अवसर होने पर भी एक भी पैसे की गडबड न करे।

पर इस कदम से कोई कालाधन निकलेगा, कोई दाउद का खजाना लुट जाएगा, आतंकवाद को मिलने वाला पैसा रुक जाएगा या चुनाव सुधार हो जाएगा इस जैसे नतीजे निकालना एकदम भोलापन साबित हुआ है। यह कदम हमें इसलिए अच्छा लग रहा है कि हम सिर्फ इसकी चर्चा किताबों में सुनते थे। असल में यह मामला किताबी ही है व्यवहार में कहीं उपयोगी साबित नहीं हुआ है। भ्रष्टाचार और कालाधन की बीमारी हमारे मन और दिमाग की बीमारी है उसका करेंसी से कोई लेना-देना नहीं है। और नरेन्द्र मोदी तथा उनकी टोली ने लोक सभा चुनाव से अभी तक किसी भी चुनाव और पार्टी के संचालन से लेकर हर काम में एक भी चीज ऐसे नहीं दिखाई है जो काले धन से परहेज या उसमें कमी की मंशा दिखाती हो। उल्टे भाजपा से पैसे की होड में अब कोई खडा होने तक को तैयार नहीं हो रहा है- नीतीश कुमार और लालू यादव तो बिहार चुनाव के समय विज्ञापन और खर्च के मामले में भाजपा के पासंग बराबर भी नहीं थे। उल्टे भाजपा को अब ज्यादा खर्च और दिखावा भारी पडने लगा है।

अपने लिए चन्दा और नेताओं की अमीरी में सबसे आगे बैठी इस पार्टी को या इसकी सरकार को काला धन के स्रोत और ठिकानों का पता न होगा यह मानना मुश्किल है। पार्टी ने इसे चुनाव में बडा मुद्दा बनाया था-कालाधन निकालना तो बाएँ हाथ का खेल बताया था हर व्यक्ति के खाते में 14-15 लाख देने का वायदा सा था। उसकी जगह हर आदमी को कम से कम 14-14 दिन तक उसके अपनी कमाई के पैसों को धुलवाने/सफेद कराने पर मजबूर करना और हर तरह की परेशानी में डालकर सरकार उससे कोई बदला ही ले रही है। कालाधन हजार पांच सौ के नोट में रहेगा और दो हजार में गायब हो जाएगा यह तर्क समझना मुश्किल है। और खुद सरकार द्वारा उठाए उससे पहले दो कदमों का जो हाल हुआ था वह भी बताता है कि सरकार अपने हिस्से का काम नहीं करना चाहती लोगों को ही पीसना चाह्ती है। पनामा लीक्स और स्विस बैंक, लिखेस्टाइन बैंक के खातेधारकों पर कार्रवाई की कौन कहे सरकार तो अब बैन्कों के साढे सात लाख करोड लेकर चम्पत होने वाले कठित उद्यमियों के नाम सार्वजनिक करने का फैसला भी नहीं कर पा रही है।

जिस पिछली मुहिम की सफलता का मोदी जी और उनके वित्त मंत्री ढिंढोरा पीट रहे हैं उसमें मात्र 65 हजार करोड रुपए आए और सम्भव है कुछ लोग ऐसे होंगे जो बडे नोट रद्द होने की तैयारी की भनक पाकर उस योजना में अपना धन घोषित करने गए होंगे। जब आपका अनुमान तीस लाख करोड का है और आप योजना चलाकर मात्र दो-ढाई फीसदी कालाधन ही निकाल पाते हैं तो फिर इस नाटक की क्या जरूरत थी। और यह योजना तब और सन्दिग्ध बन जाती हैं जब आप इस तथ्य पर गौर करते हैं कि नए नोट लाने की सारी परेशानी के साथ ही सिर्फ नए नोट छापने पर

पच्चीस से तीस हजार करोड रुपए के खर्च का अनुमान है। अगर इतनी भी रकम नहीं निकली तब जनता के धन की बर्बादी और हर किसी की परेशानी का कौन जिम्मेवार होगा। नया नोट छपना एक धन्धा है और नोट की जगह बिना करेंसी के लेन-देन का धन्धा कैसा चल रहा है यह बताने की जरूरत नहीं है। नोट छपने के धन्धे और फैसले पर तो परदा है पर बिना करेंसी के धन्धे वाले तो अखबारों को पन्ना दर पन्ने का विज्ञापन देकर अपने व्यवसाय बढाने की घोषणा कर ही रहे है। इलेक्ट्रानिक पैसे का चलन बढना अच्छा है पर इस तरह दो घंटे के नोटिस पर लगभग सतासी फीसदी करेंसी को रद्दी घोषित करके नहीं। करीब पन्द्रह लाख करोड की मुद्रा एक झटके में रद्दी बना देना छप्पन इंच के सीने से भी ज्यादा संकल्प और समझ की कमी को ही दिखाता है। यह एक बार पाकिस्तान को डांटने और दोबारा बिना न्यौता शरीफ की अम्मा को साडी भेंट करने पहुंचने जैसा चौंकाऊ तो हो सकता है पर असर के मामले में उतना ही सन्दिग्ध रहेगा। और अगर यह कोई सर्जिकल स्ट्राइक है तो अपने ही लोगों के खिलाफ है, इससे जितना काला धन बाहर आएगा उससे ज्यादा सफेद धन का नुकसान होगा।

**—अरविन्द मोहन**

# नोटबंदी एक मूर्खतापूर्ण कदम

**प्रो0 अरुण कुमार से साक्षात्कार**

नोटबंदी एक मूर्खतापूर्ण कदम है। इससे गरीब सबसे ज्यादा कष्ट झेलेंगेः प्रोफेसर अरुण कुमार, नवंबर 24, 2016

अर्थशास्त्र के प्रोफेसर अरूण कुमार, काले धन पर लिखने वाले सबसे अधिक उद्धृत लेखकों में से एक हैं। उन्होंने 'द ब्लैक इकॉनॉमी इन इंडिया' (पेंग्विन, 1999) तथा 'इंडियन इकॉनॉमी सिन्स इंडिपेंडेंसः परसिस्टिंग कोलोनियल डिसरप्शन' (विज़न बुक्स, 2013) पुस्तकें लिखी हैं। इंडिया लीगल के मुख्य सम्पादक इन्द्रजीत बाधवार और एसोशिएट संपादक मेहा माथुर को दिए गए साक्षात्कार में प्रो0 कुमार बताते हैं कि कैसे जल्दीबाज़ी में उठाया गया ये क़दम माँग, रोज़गार और निवेश को विपरीत ढंग से प्रभावित करेंगे।

**साक्षात्कार के अंश -**

प्रश्न - कब और किन परिस्थितियों में विमुद्रीकरण एक अर्थशास्त्रीय उपकरण की तरह उपयोग किया जाता है और वैश्विक स्तर पर इसका प्रयोग कितना सामान्य है?

उतर - आर्थिक बदलाव के एक उपकरण के रूप में इसका प्रयोग कई जगहों पर हुआ है, पर उस तरह नहीं जैसे कि भारत में हुआ है। ऐसा उन जगहों पर बडे तादाद में किया गया जहां मुद्रा अपना मूल्य पूरी तरह खो चुकी थी, जैसे सोवियत संघ या वाइमर गणराज्य, जहां आपको रोजमर्रा की जरूरतों के लिए बोराभर पैसे ले जाने पडते। वहां मुद्रा को समाप्त कर दिया और नयी मुद्रा सुजित की गयी। मगर भारत ऐसी परिस्थिति में नहीं है।

प्रश्न - क्या भारतीय अर्थव्यवस्था ऐसे संकट का सामना कर रही थी कि इस तरह के तीव्र और भारी भरकम 'सर्जिकल स्ट्राइक' की आवश्यकता पडी?

उत्तर - ऐसा नहीं है। वास्तव में हमारे मैक्रो-इकॉनॉमिक सूचक काफी अच्छे थे। पर असल मुद्दा है, इससे हासिल क्या हुआ? प्रधानमंत्री के अनुसार, यहां दो उद्देश्य हैं। पहला है आतंकियों के वित्तपोषण और नकली नोटों पर अंकुश लगाना और दूसरा यह कि काले धन की अर्थव्यवस्था, जो बहुत बडी हो चुकी है, गरीबी और सारी समस्याओं की जड है, उससे छुटकारा पाना। सवाल है - क्या विमुद्रीकरण इन दोनों समस्याओं से निजात दिलाता है? जहाँ तक नकली नोटों की बात है, वो दस लाख में केवल 400 हैं, जो नगण्य हैं। रिजर्व बैंक के अनुसार 400 करोड रूपये के नकली नोट ही बाजार में हैं। बाजार में कूल मुद्रा है साढे सत्रह लाख करोड रूपये। ये़ ऊंट के मूंह में जीरा के समान है, नगण्य है। आतंकियों को पैसे की जरूरत होती है जिसके लिए वो नकली नोट छापते हैं और इसे फैलाते हैं। पर एक बार उन्होंने पैसा किसी और को दे दिया तो ये अर्थव्यवस्था में घूमता रहता है। इस वजह से उन्हें ज्यादा से ज्यादा नकली नोट छापने होते हैं। इसे रोकने की जरूरत है। आप इसे कैसे रोकेंगे? नोटबंदी से नहीं, क्योंकि नकली नोटों को बनाने में अन्य देशों की सरकारें भी संलिप्त हैं। वे नए किस्म के नोट की भी नकल कर सकते हैं।

प्रश्न - विगत वर्षों में भारत की विकास दर, व्यापार, सकल घरेलू उत्पाद और विदेशी मुद्रा भंडार अमूमन अच्छे रहे हैं। फिर इस फलदायी व्यवस्था में छेडछाड क्यों?

उत्तर -- ये पूरी तरह एक गलत आकलन है कि आप इस उपाय से काले धन की अर्थव्यवस्था से निजात पा लेंगे। इसका मतलब समझिए। आप कमाते हैं जिसमें से आप बचाते हैं और संपत्ति अर्जित करते हैं। आपकी आय जितनी भी हो आप उसका एक हिस्सा खर्च करते हैं और कुछ बचा लेते हैं और वो बचत आप कई तरह की संपत्तियों में निवेश करते हैं। इससे आपका धन बनता है। धन को कई तरह से रखा जाता है। आप इसे मकान, जमीन, सोना, शेयर बाजार या नकदी में रख सकते हैं। नकदी तो आपके धन का एक हिस्सा होता है - संभवतः आपके पूरे धन का मात्र एक प्रतिशत। काले धन की अर्थव्यवस्था मेरे हिसाब से जीडीपी का 62% है। फिलहाल 150 लाख करोड की जीडीपी में हम हर साल 93 लाख करोड की काली कमाई पैदा कर देते हैं। काला धन इसका तीन गुना, लगभग 300 लाख करोड हो सकता है जिसमें से 3 लाख करोड रूपये नकदी के रूप में है जिसे हम काला पैसा कहते हैं।

प्रश्न - तो क्या काला धन और काली कमाई में फर्क है?

उत्तर - हां, काली कमाई, काली मुद्रा और काला धन, तीनों ही अलग हैं। अक्सर लोग भूल कर बैठते हैं। उन्हें लगता है तीनों एक ही हैं। काली मुद्रा देश में काले धन की मात्र एक प्रतिशत है। मान लेते हैं आप तीन लाख करोड रूपये अलग करने में पूरी तरह सफल हो जाते हैं तो भी आप केवल 1% ही अलग कर रहे हैं।

अगला मुद्दा है क्या आप तीन लाख करोड रूपये अलग कर पाएंगे? लोगों ने इसे सफेद करने के तरीके खोज लिए हैं। जिस दिन ये घोषणा हुई, खबर आई कि तीन बजे रात तक ज्वेलरी की दूकानें खुली थीं। वे पुरानी तारीखों की रसीदें देकर सोने की बिक्री दिखा रहे थे। एक व्यापारी ने कहा, उसके पास 20 करोड रूपये थे और उसने अपने कर्मचारियों के चार महिनों की पगार पहले ही दे दी। वे इसे बैंक में जमा करेंगे। इस तरह उनकी काली मुद्रा का उपयोग हो गया। इसके बाद ग्रामीण इलाकों में जनधन योजना के बैंक खातों में बडे पैमाने पर काली मुद्रा जमा की जा रही है। एक जमींदार 100 लोगों को 20,000 लेकर बैंक में जमा करने को कह सकता है तो आप यहां तक कि तीन लाख करोड का भी विमुद्रीकरण नहीं कर पाएंगे। ज्यादा से ज्यादा 50,000 से 70,000 करोड रूपये ही चलन से निकाल सकते हैं। इस तरह दोनों ही उद्देश्य, जिनका प्रधानमंत्री ने उल्लेख किया है, पूरे नहीं होंगे।

और तो और, आप मूश्किल से एक साल के लिए तीन लाख करोड रूपये की मुद्रा पर चोट कर सकते हैं पर काली कमाई पहले की तरह ही जारी रहेगी जैसे नकली दवा बनाकर, नशीली चीजें बेचकर, कैपिटेशन फीस वसूलकर, खरीद-बिक्री के गलत रसीद दिखाकर इत्यादि। इस तरह नकदी यहां फिर से पैदा हो जाएगी। और आप दो हजार के नोट ला रहे हैं जिससे काली मुद्रा को रखना और आसान होगा। ऐसे तो आप अपने ही तर्क को कमजोर कर रहे हैं कि बडे नोट काले धन को जमा करने में सुविधाजनक होते हैं इसलिए इन्हें हटाने की जरूरत है।

प्रश्न - हम सभी जानते हैं कि भारत में विशाल और निरंतर बढती एक समानांतर अर्थव्यवस्था है। बहुत चालाकी के साथ, यह समानांतर अर्थव्यवस्था पूरी तरह नकदी पर चलती रहती है। यह रोजगार, उपभोक्ता मांग, ग्रामीण कर्ज़, अनौपचारिक बैंकिंग और मुद्रा प्रवाह को सफलता से चलाते रही है। विमुद्रीकरण इन क्रियाकलापों पर कैसे चोट करेगा? इसे रॉबिनहुड की तरह के उपाय के रूप में पेश किया जा रहा है - अमीरों से लूटकर गरीबों को देना। इस तरह का राजनीतिक संदेश दिया जा रहा है। क्या यह एक गरीब-हितैषी-प्रयास है?

उत्तर -- नहीं। मूल रूप से ये समानांतर अर्थव्यवस्था नहीं है। भारत में काले धन की अर्थव्यवस्था और सफेद धन की अर्थव्यवस्था, दोनों ही बडे पैमाने पर एक दूसरे के साथ गुंथे हुए हैं। इसलिए जब आप अपनी जमीन या मकान बेचते हैं तो आप एक ही साथ काली और सफेद कमाई करते हैं। जब आप चीनी का उत्पादन करते हैं, तब आप उत्पादन का 90% ही दिखाते हैं और 10% नहीं दिखाते। इस वजह से जब अवैध धन की अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है तब वैध धन की अर्थव्यवस्था भी साथ ही प्रभावित होती है। यह प्रयास जो अवैध की अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने के लिए लाया गया है, वह सफेद धन की अर्थव्यवस्था को भयंकर रूप से प्रभावित कर रहा है। मांग घटती चली जा रही है। जैसा कि किसी ने अच्छा दृष्टांत दिया है, अगर आप किसी के शरीर में से 85% खून ले लें फिर 5% डाल दें, तो उस व्यक्ति के शरीर का क्या होगा? वो मर जाएगा। इसी तरह से, जब आप 85% मुद्रा अर्थव्यवस्था से निकाल लेते हैं और इसके बदले धीरे धीरे 5% डालते हैं तब मुद्रा प्रवाह कम हो जाता है। दूकानों में ग्राहक घट गए हैं। मोबाइलों की रिजार्जिंग घट गई हैं।

गुब्बारे वाला के गुब्बारे नहीं बिक रहे। छोटे व्यापारी अपने माल नहीं बेच पा रहे। यहां तक कि बडे व्यापारी भी अपने माल नहीं बेच पा रहे क्योंकि मनमाफिक खर्च कम हो गया है। उदाहरण के लिए, एक कमीज़ खरीदने को मैं अगले महिने तक टाल देता हूं तो आय की कमी मांग को घटा रही है। जब मांग कम पड जाती है, उत्पादन घट जाता है। रोजगार कम हो जाते हैं और निवेश गिर जाता है। तो इसके दीर्घगामी दुष्प्रभाव होते हैं। अगर ऐसा एक या दो महिने जारी रहता है तो निवेश गिर जाएगा और साल भर से ज्यादा का वक्त तक इसका असर बना रहेगा। नकद की किल्लत को तुरंत दूर नहीं किया जा सकता। इससे मांग 50 दिनों से ज्यादा वक्त तक प्रभावित होगी।

आपको 14.5 लाख करोड रूपये के 500 और 1000 के नोट बदलने हैं जिसे आपने 15 सालों या उससे भी ज्यादा वक्त में छापा था। पर आपको बदलना है तुरंत। ये संभव नहीं है क्योंकि आपको कागज और स्याही की जरूरत है जो ज्यादातर आयात किये जाते हैं। और स्याही की आपूर्ति का अभाव है, जिसके चलते उन्होंने कुछ दिनों पहले निविदा जारी की। बिजनेस स्टैंडर्ड के अनुसार, कागज और स्याही की कमी ना भी होने पर नोट छापने में 108 दिन लगेंगे और अगर आप 100 का नोट छाप रहे हैं तो 1000 के नोट की अपेक्षा 10 गुना ज्यादा वक्त की आपको जरूरत है और इसे होने में बहुत लंबा वक्त लगेगा।

दूसरी बात है, लोग नोटों को जमा कर रहे हैं क्योंकि वे आश्वस्त नहीं है कि कब आपूर्ति सामान्य होगी। इसकी वजह से, नोटों की मांग ड्योढी हो जाएगी। जो लोग सबसे ज्यादा दिक्कतों का सामना करेंगे, वे असंगठित क्षेत्र के हैं, जिनके पास ना तो क्रेडिट कार्ड, ना डेबिट कार्ड और ना कार्ड रीडर है। ये वही लोग हैं जिन्हें नोटो की सबसे ज्यादा जरूरत है। पूरी कृषि असंगठित क्षेत्र है। ये क्षेत्र कारखाना उत्पादन और सेवा का भी महत्वपूर्ण सप्लायर और ग्राहक है।

प्रश्न - क्या ऐसा कोई खतरा है कि लोगों का एक बडा हिस्सा आर्थिक रूप से अशक्त हो जाएगा?

उत्तर - यही तो हो रहा है। जिससे गुब्बारे वाले की आय तेजी से गिर गयी है। एक भिखारन ने बताया कि लोग अब भीख नहीं दे रहे और उसके चार छोटे छोटे बच्चे थे, जिनमे से एक खाने की कमी से मर गया। जिन लोगों का 500-1000 के नोटों से कोई वास्ता नहीं था, वे भी प्रभावित हो रहे हैं। ग्रामीण इलाकों में किसान बीज और खाद खरीदने में सक्षम नहीं हैं। अढतिया के पास कर्ज देने को पैसे नहीं हैं। इसके चलते अगले साल की बुआई भी प्रभावित हो सकती है। आप पैसा तो नहीं खाते। पैसे से आप खाना, कपडा और सेवा खरीद सकते हैं। इसलिए पैसा प्रवाह में हो। ये शरीर में रक्त के प्रवाह की तरह है, जिसके वजह से सब कुछ चलता है। अगर इसकी कमी होती है, तो समस्या होगी।

प्रश्न - इस समय हमें असुविधा हो रही है। वास्तविक दिक्कतें कब शुरू होंगी? आप क्या सोचते हैं?

उत्तर - वास्तविक तकलीफ तो गरीबों के लिए जारी है ही। मध्य वर्ग के लिए वास्तविक तकलीफ कम है क्योंकि हम क्रेडिट कार्ड का उपयोग करते हैं। ये शुरू तब होगी जब हमारी आय प्रभावित होगी। जब उत्पादन कम होगा तब मध्य वर्ग छंटनी का सामना करेगा। ट्रकवाले हडताल पर चले जाएंगे, जो कि एक संभावना है। अगर सरकार ने ठीक से तैयारियां की होती और नोटों के प्रवाह के प्रबंध किए होते तो संभवतः ये तकलीफ कम हो गयी होती।

प्रश्न - क्या नकद की पुरानी व्यवस्था को चलने देना एक विकल्प था?

उत्तर - ऐसा कदम काले धन की अर्थव्यवस्था को खत्म नहीं करता बल्कि पूरी अर्थव्यवस्था के लिए समस्या खडी कर देता है। बात ये है कि काले धन की अर्थव्यवस्था कल से नहीं शुरू हुई, ये जारी है 70 सालों से। तो इस समस्या को रातोंरात ठीक भी नहीं किया जा सकता। कोई जादु की छडी नहीं है। आप जो कर सकते थे वो ये कि व्यवस्था में जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए लोकपाल की नियुक्ति करते, काले धन से निपटने के उपायों में, व्यापारियों, नेताओं, नौकरशाहों, पुलिस और न्यायपालिका जो जवाबदेह नहीं है, तो जवाबदेही लाएंगे कैसे? ये एक कुञ्जी है। अगर आप इन सबके बीच जवाबदेही ला सकते हैं तो आप काले धन की समस्या को हल कर सकते हैं। इसलिए राजनीतिक दलों का सूचना का अधिकार के तहत आना जरूरी है। पर वे इसके लिए तैयार नहीं हैं। भ्रष्टाचार उजागर करने वाले लोग (व्हिसलब्लोअर) बहुत महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि यही वे लोग हैं जो व्यापमं या आदर्श जैसे घोटाले सामने लाते हैं। पर व्हिसलब्लोअर बिल को सशक्त करने के बदले इसे कमजोर किया जा रहा है। दूसरी बात, हम प्रत्यक्ष कर के सरलीकरण के लिए बहुत कुछ नहीं कर रहे। माल एवं सेवा कर (जीएसटी) है, पर ज्यादा महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष कर नियमावली विधेयक है। आप को प्रत्यक्ष कर को सरलीकृत करना बाक़ी है। खुफिया एजेंसियां हवाला पहचानती हैं पर आप उसके ऊपर कुछ नहीं करते। तो ऐसी

कई चीजें हैं जो आप तुरंत कर सकते हैं क्योंकि आपके पास नियम मौजूद हैं। इससे पता चलता है कि नीयत ठीक नहीं है। अगर आपने इन कानूनों का सहारा लिया होता, तो काली कमाई ना करने वाले उन 97% लोगों पर बिना प्रतिकूल प्रभाव डाले आप काले धन में लगे 3% लोगों पर निशाना साध सकते थे। वास्तव में, 97% लोग काले धन की अर्थव्यवस्था के कारण पहले से ही पीडित हैं और अब उन पर दूसरे बोझ भी लाद दिए गए हैं - बिना काले धन की समस्या का हल निकाले।

प्रश्न - उनके लिए आपने सुगम तरीका नहीं दिया है जो अनजाने में काले धन की अर्थव्यवस्था के अंग हो गए हैं?

उत्तर – नहीं। आय घोषणा योजना 30 सितंबर तक की थी जिसमें आप 15% जुर्माने के साथ काले धन की घोषणा कर सकते थे। वित्त मंत्री ने कहा,' कृपया साफ होकर आयें तभी आप चैन से सो पायेंगे' (प्लीज़ कम क्लीन देन यू कैन स्लीप इन पीस)। पर जब आप कहते हैं कि हम भ्रष्ट व्यापारी के खिलाफ कदम नहीं उठायेंगे तब तक वे खुश हैं। तो जहां माफी दी गयी वहां फायदा नहीं हुआ। स्वैच्छिक घोषणा योजना (वी डी एस ) भारत में छः बार लागू की गयी है। सरकार ने 1997 में उच्चतम न्यायालय में हलफनामा दिया कि हम कभी इस तरह की योजना नहीं लाएंगे। कारण रहा कि ये ईमानदार लोगों के साथ अन्याय था। ईमानदार व्यापार की पूंजी धीरे धीरे बढ रही है क्योंकि वो पूरा कर दे रहा है। बेइमान व्यापारी की पूंजी तेजी से बढ रही है। इसलिए ईमानदार कहता है मुझे भी बेइमान होने दो। स्वैच्छिक घोषणा योजना पर 1997 में कैग ने दो चीजें बतायीं। लोग अभ्यस्त कर अपराधी हो गये हैं। जिन लोगों ने पिछली पांच योजनाओं में घोषित की, उन्होंने ही छठी योजना में भी घोषित की। उन्होंने सोचा कि दूसरी योजना आ जाएगी, थोडा और पैसा कमा लें। इस तरह 1997 के बाद उन्होंने स्वैच्छिक घोषणा की ही नहीं, जबकि 2016 की आय घोषणा योजना भी स्वैच्छिक घोषणा योजना की ही तरह थी। मॉरीशस का रास्ता भी स्वैच्छिक घोषणा योजना की तरह है। आप पैसा बाहर भेजते हैं, वापस घूमा कर ले आते हैं और इस तरह आप कर नहीं देते। हमारे पास अद्भूत कानून हैं पर हम उन्हें लागू नहीं करते। इन कानूनों को लागू करने के लिए राजनीतिक इच्छाशक्ति चाहिए।

दूसरी बात, नकद का अर्थ अनिवार्यतः काला पैसा नहीं होता। तो, 17।5 लाख करोड रूपये में से 14।5 लाख करोड रूपये 500-1000 के नोटों में है। इसमें से 50% व्यापार में लगा होगा। अगर आप पेट्रोल पम्प जाते हैं, तो दिन के अंत में कैशियर के पास नोटों का बंडल देखते हैं। रेलवे, एयरपोर्ट - हर जगह जरूरत है। कंपनियों के पास थोडा ही काला-नकद है। ज्यादातर नकद सफेद है। जिसे अर्थव्यवस्था को प्रवाह में बनाए रखने में उपयोग किया जाता है। घरेलू तौर पर, एक साधारण चपरासी की 10,000-20,000 की काली कमाई काले धन की अर्थव्यवस्था के सामने कुछ भी नहीं है। एक मधु कोडा की काली कमाई पूरे तृतीय और चतुर्थ वर्गीय कर्मचारियों की काली कमाई से ज्यादा है। ये भ्रांति है कि काला धन मतलब नकदी है। इसी जगह मोदी की समझ में कमी है। उन्होने सोचा कि अगर वो नकदी पर चोट करेंगे तो काले धन की अर्थव्यवस्था भरभरा जाएगी।

प्रश्न - ये तो स्वार्थ-निहित राजनीतिक आदर्श की तरह लगता है।

उत्तर - राजनीतिक स्वार्थ यह है की मैं गरीबों का नायक हो जाऊं। कि मैंने काले धन की अर्थव्यवस्था तोड दी, जो गरीबों को प्रभावित कर रही थी। अगर दो लाख करोड वापस आये तो वे

ये कहेंगे कि मैं दस करोड परिवारों को 20,000-20,000 रू दे रहा हूं। इन अमीर लोगों ने ये पैसा चुरा लिया था इसलिए मैंने उनसे वापस ले लिया है और गरीबों में बांट दिया है। पर इन कारणों से ये बेअसर रहेगा कि जब एकबार में गरीब 20,000 रू ले रहे होंगे, तो अगर इनकी नौकरी ही चली जाएगी तो ये आगे के सालों में काफी ज्यादा खो देंगे।

प्रश्न - तो आप कह रहे हैं कि ये बहुत ही आधारभूत संरचनात्मक सुधार है, जिसका मतलब क्रमिक सुधारवाद है? जैसे चंद्रशेखर को सोना गिरवी रखना पडा था, क्योंकि उस वक्त संकट की स्थिति थी? कुछ हद तक 1972 के संकट जैसा, जब इंदिरा गांधी ने गेंहू पर नियंत्रण के आदेश जारी किए थे?

प्रश्न - पर बात ये है कि ये उपाय संकट के दौड़ में किए गए थे। इससे तो हरेक चीज पर असर हो रहा है।

प्रश्न - तो ये लाख टके की राजनीतिक भूल है ?

उत्तर -- व्यापारी वर्ग उनका समर्थन छोड देगा क्योंकि व्यापारी बहुत परेशान है, किसान परेशान है, कर्मचारी परेशान है। वो ये करेंगे कि दिल्ली, मुंबई, कोलकाता और चेन्नई में नकद की आपूर्ति कर देंगे और राष्ट्रीय मीडिया कहेगी कि लाइनें कम हो रही हैं। पर गांवों में नकद कम रह जाएंगे। उन्हें बैंक में पैसे लेने के लिए लंबी दूरियां तय

करनी होती है और कई बार खाली हाथ लौटना पडता है। टियर -2 और टियर-3 के शहरों में बहुत कम पैसे हैं।

प्रश्न - अब ये लॉकरों तक भी जा सकते हैं?

उत्तर - नहीं, इससे केवल मध्यम वर्ग ही प्रभावित होता है। गरीब लॉकरों का उपयोग नहीं करते।

प्रश्न - मगर राजनीतिक दलों को उन 3% से ही पैसा मिलता है।

उत्तर - पर अगर आपमें वो करने की राजनैतिक इच्छाशक्ति है तो ये करने की भी राजनीतिक इच्छाशक्ति होनी चाहिए। जैसे यूपी के एक नेता को चंदा देने वालों से कहते पाया गया कि पुराना नोट दे जाएं और नया नोट ले जाएं। तो राजनीतिक दल के चंदे नहीं रूकेंगे। अब 2000 के नोटों से और आसानी हो जाएगी। उन्हें कुछ नहीं होगा। आज मैं एक कमिश्नर से बात कर रहा था, जिन्होंने बताया कि हम उन मामलों को हाथ नहीं लगाते जिनके पीछे राजनैतिक ताकतें हों। वैसे आय कर विभाग के पास इतनी तहकीकात करने की शक्ति भी नहीं है।

प्रश्न - ये केवल एक आदमी के दिमाग की उपज है?

उत्तर- उन्होंने किसी से भी विमर्श नहीं किया। अपनी बातों में उन्होंने कहा कि सरकार के विभाग और बैंक इस बारे में पहली बार सुन रहे हैं।

प्रश्न - हमें संविधान की धारा 21 देखना चाहिए। संविधान संपत्ति का अधिकार देता है। आपकी जीविका एक मौलिक अधिकार है।

उत्तर- वे यह नहीं कर रहे। वे पुराने नोटों को नये नोटों से बदल रहे हैं। वो आपको आपकी संपत्ति से बेदखल नहीं कर रहे।

प्रश्न -पर वे जीने के साधन लूट रहे हैं।

उत्तर - ये इस कदम का परिणाम है। जहां तक संपत्ति की बात है, वो आपकी संपत्ति नहीं लूट रहे। 'मैं भुगतान का वादा करता हूं' ( आई प्रॉमिस टू पे), ये कहना एक कानूनी निविदा है। सरकार समान मूल्यों के नये नोट छाप रही है। पर इससे मंदी आती है। यह एक मूर्खतापूर्ण कदम है। किसी भी नीति के गलत दिशा में जाने की संभावना होती है।

प्रश्न - क्या इस प्रक्रिया के लिए उच्चतम न्यायालय दोषवार भी ठहरा सकता है?

उत्तर - उच्चतम न्यायालय एक जिम्मेवार संस्था है। ये कोई भी बात मौखिक रूप से कह सकता है, डांट सकता है, पर जब फैसला आता है तो ये सतर्क हो जाते हैं। जनहित याचिकायें दायर भी की गई हैं, और सरकार इन्हें उच्चतम न्यायालय में इकट्ठा चाहती है। और न्यायालय ने अभी तक इससे इंकार किया है। पर अंततः ये हो सकता है कि न्यायालय ये कहे कि ये तो नीतिगत मामला है। हम इसमें कुछ नहीं कर सकते।

प्रश्न - एक आदमी वो करने की कोशिश कर रहा है जो किया नहीं जा सकता, बिना किसी सलाह के?

उत्तर - इस तरह भारत जैसे जटिल देश को नहीं चलाया जाता। अगर मैं उस जगह पर होता तो मैं 100 लोगों से पूछता। वे अपनी कैबिनेट में किसी पर भरोसा नहीं करते और उनके मोबाइल रखवा लेते हैं। रात 8 बजे तक उन्हें एक हॉल में रखा जाता है। उर्जित पटेल ने सभी बैंकोंवालों को बुलाया और उन्हें एक महत्त्वपूर्ण घोषणा पर नज़र रखने को कह दिया। ये, भारत जैसे जटिल देश में इस तरह की जटिल नीति लाने का तरीका बिल्कुल नहीं है। *(इंडिया लीगल से साभार)*

# आपसी सौहार्द का अर्थशास्त्र बनाम कैशलेस

**भारत डोगरा**

**भारत के गाँवों में नकदी का प्रचलन कभी भी बहुत अधिक नहीं रहा। हरित क्रांति के बाद के 50 सालो में कृषि के बदलते स्वरूप के चलते गाँवों में नकदी का प्रचलन बढ़ता चला गया। सरकार की वर्तमान कैशलेस योजना दरअसल भारत के धन को देशी/विदेशी कंपनियों को सौंप देने की साजिश भर है।**

आज सरकार बार-बार जिस कैशलेस (नकदी रहित) व्यवस्था की ओर जाने के लिए कह रही है वह एक ऐसी कैशलेस व्यवस्था होगी जो बड़ी कंपनियों के नियंत्रण में रहेगी। पर एक अलग तरह की कैशलेस व्यवस्था बहुत पहले से हमारे गांवों में चली आ रही थी। यह गांवों की परंपरागत कैशलेस व्यवस्था आत्मनिर्भरता और आपसी सहयोग पर आधारित थी।

इस 'कैशलेस' व्यवस्था में कैष यानि नकदी की न्यूनतम उपयोगिता के दो आधार थे। पहला आधार यह था कि प्रकृति व स्थानीय प्राकृतिक संसाधनों की बेहतर समझ के आधार पर खेती-किसानी व इससे मिले जुले विभिन्न कार्य किए जाते थे। इस तरह स्थानीय निषुल्क प्राकृतिक संसाधनों का बेहतर से बेहतर उपयोग कर खेती-किसानी की जाती थी। इससे रासायनिक खाद-कीटनाषक दवा, बाहरी बीज, डीजल आदि खरीदने की कोई जरूरत नहीं पड़ती थी। इस तरह ९० प्रतिषत या उससे भी अधिक कृषि कार्य बिना बाहरी उत्पादों पर कोई नकदी खर्च किए ही हो जाता था।

पर पूंजीवादी व्यवस्था व उसके असर में चलने वाली सरकारों को यह स्वीकार्य नहीं था। पूंजीवादी सोच कहती है कि जब तक किसान और गांव आत्मनिर्भर हैं, तब तक उसका शोषण- नहीं हो सकेगा। उसका शोषण तो तभी हो सकेगा जब वह बाजार पर अधिक से अधिक आश्रित होगा। अतः तरह-तरह की तिकड़म अपनाकर किसान व गांव की आत्मनिर्भरता को समाप्त किया गया व इस विनाशकारी कार्य को स्वीकृति दिलवाने के लिए इसे कृषि विकास, हरित क्रांति, श्वेत क्रांति, नीली क्रांति जैसे अनेक नाम दिए गए।

परंपरागत ग्रामीण व्यवस्था के कैशलेस होने का दूसरा मुख्य आधार यह था कि लोगों में आपसी सहयोग था। जब श्रम की अधिक जरूरत होती थी जैसे फसल की कटाई के वक्त, तो विभिन्न परिवार एक दूसरे का बहुत हाथ बंटाते थे। इस कारण भारी कम्बाईन हारवेस्टर जैसी महंगी मषीनों को खरीदने या किराए पर लेने की जरूरत कभी नहीं पड़ती थी।

पर जब तक लोग आपसी सहयोग से ही अधिकतर काम मुकम्मल करते रहते हैं, तब तक पूंजीवादी व्यवस्था को गांव में दखल देने व पैर जमाने की जगह बहुत कम मिलती है। अतः पूंजीवादी व्यवस्था व उसके नियंत्रण में चल रही सरकारों के लिए यह भी जरूरी था कि गांववासियों के आपसी सहयोग की व्यवस्था को निरंतर कम किया जाए या तोड़ा जाए।

इस तरह गांवों में जो 'कैशलेस' परंपरागत व्यवस्था आत्मनिर्भरता व आपसी सहयोग पर आधारित थी, वह पूंजीवादी व्यवस्था के लिए असहनीय थी। उसे पहले कमजोर किया गया व बाद में तोड़ दिया गया। इस तरह परंपरागत कैशलेस व्यवस्था कमजोर होती गई व उसकी जगह नकदी व बाजार का आधिपत्य हो गया।

अब इस स्थिति में निरंतर उग्र होते पूंजीवाद द्वारा जिस कैशलेस व्यवस्था की बात की जा रही है वह बहुत अलग किस्म की व्यवस्था है जो भूमंडलीकरण व बड़ी कंपनियों के नियंत्रण में रहेंगी। यह कैशलेस व्यवस्था आत्मनिर्भरता बढ़ाने वाली नहीं है बल्कि निर्भरता बढ़ाने वाली है। यह नई कैशलेस व्यवस्था बड़े कारोबारी के पक्ष में है, छोटे कारोबारियों के प्रतिकूल है और मॉल के पक्ष में है, गली-मोहल्ले की दुकान के विरुद्ध है।

जहां सरकार जोर-षोर से नई कैशलेस व्यवस्था के प्रचार से जुड़ी है, वहां उससे यह भी पूछना चाहिए कि परंपरागत कैशलेस व्यवस्था जो पहले से चली आ रही थी उसे किसने और क्यों तोड़ा? (सप्रेस)

श्री भारत डोगरा प्रबुद्ध एवं अध्ययनशील लेखक हैं।

# नोटबन्दी के हमले से जनता की सुरक्षा का प्रयास

**चन्द्र भूषण चौधरी**

जनता की सुरक्षा, अर्थिक विकास और स्थिरता (Stability) के लिए बड़े भौगोलिक विस्तार, बड़ी जनसंख्या और केन्द्रीकृत शासन वाले राज्य बीसवीं और इक्कीसवीं सदी में आदर्श माने गए है। इसके उदाहरण स0 र0 अमेरिका, चीन, भारत, पुराना (अब खण्डित) सोवियत राज्य और एकीकृत यूरोप हैं। एक क़िस्म के नोट/ मुद्रा और केंद्रीकृत मौद्रिक नियन्त्रण/ प्रशासन (Centralized Monetory Control) इस बड़ी व्यवस्था के अनिवार्य अंग है। उन सभ्यताओं की आन्तरिक विविधता, राजनीतिक आर्थिक विकेन्द्रीकरण का स्तर, राजनीतिक क्रमविकास (Evolution), ऐतिहासिक परिस्थिति, गुलामी के इतिहास वगैरह के कारण ऐसी केंद्रीकृत राज्य व्यवस्था बहुसंख्य जनता के लिए लाभकारी या नुकसान देह भी हो सकते है। कभी, कभी तथाकथित अपनी ही सरकार जनता के किसी छोटे या बड़े हिस्से पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हमला भी कर देती है। अपूर्ण लोकतंत्र वाले देशों में असंगठित जनता के पास इस हमले से लड़ने का कोई सांगठनिक, आर्थिक या फौजी औज़ार भी तैयार नहीं रहता है। अगले चुनाव तक कुछ नहीं कर पाना लोकतंत्र को बिलकुल ख़तम भी कर सकता है। ऊपर गिनाये गए देशों के पिछले सौ साल के इतिहास को देखने से यह बात साफ होती है। वर्त्तमान भाजपा सरकार की तानाशाही और मूर्ख प्रवृत्तियो के कारण आज भारत की जनता और सभ्यता एक साथ ही कई भयानक राज्य प्रायोजित (State Sponsored) हमलों से आक्रान्त है। वर्त्तमान नोटबन्दी उनमे सबसे व्यापक (Pervasive) और घातक (Malignant) हमला है।

ज्यादातर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री इस बात पर एकमत हैं कि इस नोट बन्दी के कारण भारतीय अर्थ व्यवस्था में गहरी मन्दी आएगी जो 2 या 3 साल तक चल सकती है। साथ ही यह गरीबों के धन को स्थायी तौर पर धनी वर्ग के जिम्मे कर दे सकता है। मन्दी के कारण व्यापक बेरोजगारी और मांग की कमी होगी। ये दोनों खराबियाँ एक दूसरे को बढ़ाती हैं। संभवतः छह या सात महीने में जरूरी संख्या के नए नोट छप कर बैंको में आ पायेंगे। बाजार में नए नोट आने के बावजूद मन्दी का असर 2-3 वर्ष चल सकता है। छोटे उद्योग धंधे और छोटी खेती हमेशा के लिए खत्म हो सकती है। गरीब जनता में बड़ी संख्या में भूखमरी, इलाज के अभाव में बीमारी से मौतें और आत्महत्यायें भी होंगी।

आज हरेक अच्छे राजनीतिक कार्यकर्ता और समूह के दो सर्वोपरि कर्त्तव्य है –

1. केन्द्र से इस सरकार को हटाकर दूसरी समझदार और न्यायप्रिय सरकार लाना

2. उतना ही जरूरी है वे राजनीतिक- आर्थिक कार्यक्रम जो तत्काल जनता को नोट बन्दी के घातक असर से थोड़ा बहुत भी बचा सके। ये कार्यक्रम भविष्य में ऐसी ही किसी दुष्ट सरकार के हमलों से बचाव के लिए एक तैयार नुस्खे का काम भी करेगी ।

इस मामले में भी गान्धी ही हमें रास्ता दिखाते है। उनके खादी और ग्रामोद्योग के प्रयोग और स्थानीय विनिमय व्यवस्था आज फिर रोजगार और जीवन रक्षक सामानों की आपूर्ति द्वारा जनता को सुरक्षा देने में बहुत कारगर हैं। मै इस आलेख से उन सभी राजनीतिक - आर्थिक कार्यकर्त्ताओं का आहवान करता हूँ कि वे तुरत उन प्रयासों को तेज करें जिससे हरेक इलाके- ख़ास कर ग्रामीण इलाको में खाद्य सामान, कपड़े, ईंधन, घर बनाने के सामान, खेती और घरेलू औज़ार, जैविक खाद और अन्य जीवनोपयोगी सामानों तथा सेवाओं की पैदावार और स्थानीय विनिमय तेज हो सके। इस विनिमय में नोटों- सिक्को की जरुरत खतम/ नगण्य हो जाती है। जनता की सुरक्षा और अपने रचनात्मक राजनीतिक कार्यक्रम को तेज करने की चुनौती आज हम सबके सामने है। हम उन्हें सूझबूझ और साहस के साथ आगे बढ़ायें। राजनीतिक- आर्थिक विकेन्द्रीकरण के लक्ष्य के में भी यह बड़ा कदम होगा।

●

अनुपम स्मृति

# वे प्रलोभनों के पार थे

**प्रियदर्शन**

कुछ धूल और राख.से भरे उस माहौल में अपने सैकड़ों प्रियजनों और परिजनों के बीच अनुपम जी शांत लेटे हुए थे। फिर उन्हें विद्युत शवदाह के लिए बने यंत्र के भीतर उतारा गया। एक ज़ोरदार धड़ाके की सी आवाज़ आई और 68 साल की भुरभुरी, कैंसरक्लांत देह खाक़ हो गई।

मैंने पल भर के लिए आंखें मूंद लीं। बरसों से जो शख्स़ एक पारदर्शी रोशनी की तरह दिखता रहा, वह पलक झपकते राख हो चुका था। मगर वहां मौजूद हर किसी के भीतर करुणा का वह जल उमड़. आ रहा था जिसे अनुपम जी ताउम्र संचित करते और बांटते रहे।

अनुपम मिश्र पानी की तरह सहज थे और पर्यावरण की तरह खुले हुए। वे अपनी जड़ों को जानते थे औरअपने स्रोतों को पहचानते थे। परंपरा से उनका वही रिश्ता था जो हवा और पानी से था। उनकी सारी समझ इसी के बीच बनी थी। इसीलिए वह यह देख पाते थे कि जो इंतज़ाम पहले समाज के हाथ में थे, वे सरकार के पास जाकर बरबाद हो गए। पानी उनके लिए उपभोग का सामान नहीं था। पानी जीवन था जिसे नष्ट होने से बचाया जाना था। कुएं, झील, पोखर, नदियां, उनकी चेतना के सहज विस्तार थे। बाढ़ उनके लिए जीवन का हिस्सा थी। वे मानते थे कि समाज को बाढ़ के साथ जीने की जो कला आती थी, वह इस आधुनिक समय में खो गई है। वे जानते थे कि इस देश में जितने ज़्यादा बांध बन रहे हैं. उतनी ही बाढ़ आ रही है और उतनी ही तबाही ला रही है क्योंकि अब वह अपने जाने-पहचाने रास्तों को छोड़ बिल्कुल अनजाने इलाकों को रौंदती-बहाती आती है। नदियों को जोड़ने या साफ़ करने की अरबों-खरबों की परियोजना को वे सिर्फ बरबादी मानते थे। उनका कहना था कि सैकड़ों ट्रक लगाकर भी नदियों की गाद साफ़ नहीं की जा सकती। यह काम सिर्फ़ नदियां अपनी ताकत से कर सकती हैं- ज़रूरत उन्हें बहने की आज़ादी देने की हैं, बीच की रुकावटें हटाने की है।

यह भ्रम न हो कि अनुपम मिश्र जड़ परंपरावादी या घोर आधुनिकताविरोधी थे। वेपूरी तरह गांधीवादी थे- अपनी सादगी में भी, और परंपरा और आधुनिकता के प्रति अपनी आलोचक दृष्टि में भी। 'आज भी खरे हैं तालाब', 'राजस्थान की रजत बूंदें', 'हमारा पर्यावरण', 'महासागर से मिलने की शिक्षा' जैसी उनकी किताबें दरअसल पानी बचाने, तालाब बनाने या बादलों के अलग-अलग शब्दों को पहचानने के सीमित लक्ष्य को लेकर लिखी गई किताबें नहीं हैं, वह अपनी तरह की भारतीयता और सामाजिकता का संधान करने की कोशिश है। पिछले कुछ वर्षों से वे छोटी सी पत्रिका 'गांधी मार्ग' का संपादन कर रहे थे। गांधी मार्ग के अंक देखकर समझ में आता था कि सादगी और सुरुचि का संगम कितना सुकर और सुखद हो सकता है।अनुपम मिश्र यह काम इसलिए कर पाए कि उन्होंने अपने पर्यावरण को छिछली आधुनिकता के बहुत सारे प्रदूषणों से बचाए रखा था।

उनकी सहज हिंदी भी इसी पर्यावरण से निकली थी। वे हिदी का भी एक साफ-सुथरा तालाब थे। उनको पढ़ना अपनी भाषा की मिठास और उसके सोंधेपन को कुछ अचरज और उल्लास से पहचानने जैसा हुआ करता था- जैसे यह गर्मियों में किसी मीठे कुएं का पानी हो। भाषा का प्रदूषण और अर्थों का क्षरण भी उनको आहत करता था। उनका मानना था कि 'विकास' शब्द ने समाज का बुरा किया है। जिसे हम विकास समझने लगे हैं, वह दरअसल विनाश है। इसी तरह 'उदारीकरण' शब्द से उन्हें सख्त़ परहेज था। उनकी राय में जिस व्यवस्था को हम उदारीकरण कहते हैं, वह दरअसल पूरी तरह अनुदार है। 'ज़मीन' से 'ज़मीनें' बनाना उन्हें कभी गवारा नहीं हुआ, क्योंकि वे मानते थे कि ज़मीन के टुकड़े नहीं किए जा सकते।किसी खिलाड़ी के खेल छोड़ने के लिए 'संन्यास' शब्द का इस्तेमाल भी उन्हें हास्यास्पद लगता था।

अनुपम जी से मेरी पहली मुलाकात 1996 में हुई थी। उन दिनों 'जनसत्ता' में नर्मदा आंदोलन पर एक लेख लिखवाने के लिए मैंने कृष्ण कुमार को फोन किया था और उन्होंने सलाह दी थी कि अनुपम जी से यह लेख लिखवाऊं। यही नहीं, उन्होंने अनुपम जी की किसी

संभावित नाराजगी की चर्चा की थी। मैंने अनुपम जी से संपर्क करने की कोशिश की। तब वे दिल्ली से बाहर थे। जब लौटकर आए तो उन्हें खबर मिली कि मैं उनको लेकर परेशान हूं। इसके बाद वे अचानक 'जनसत्ता' के दफ्तर पहुंच गए जो तब बहादुरशाह ज़फ़र मार्ग पर हुआ करता था। वे अपने साथ मेरे लिए कई किताबें लाए थे- 'आज भी खरे हैं तालाब' और 'राजस्थान की रजत बूंदें' के अलावा 'हमारा पर्यावरण' और उसके साथ संभवतः उसका अंग्रेज़ी अनुवाद भी। मै बिल्कुल जैसे बादलों पर तैर रहा था। उनके समूचे व्यवहार में कुछ ऐसा था कि अचानक मैं अपने-आप को विशिष्ट महसूस करने लगा था। यह मेरी समझ में बहुत बाद में आया कि वे जिससे भी मिलते थे, उसके भीतर एक विशिष्टता भाव पैदा कर देते थे। ऐसा नहीं कि यह काम वे दूसरों की सच्ची-झूठी तारीफ़ या सराहना करके करते थे। ऐसी तारीफ़ें आलोचनाओं से ज़्यदा खत़रनाक होती हैं, यह तब भी मैं समझता था। लेकिन उनके पूरे व्यवहार में कुछ ऐसा होता था- किसी रणनीति या शैली के तहत नहीं, बल्कि अपनी स्वाभाविकता में- कि मिलने वाले को वाकई यह महसूस होता था कि अनुपम मिश्र उसे कितना मान दे रहे हैं।

वह पहली मुलाकात दुबारा उस तरह फिर कभी नहीं हुई, लेकिन कभी खत्म़ भी नहीं हुई। वह जैसे चलती रही। उस पहले दिन अनुपम जी से जो मान मिला, वह जीवन भर मिलता रहा। लगभग हर पंद्रह-बीस दिन पर उनका फोन आ जाया करता, अपने मृदु लहजे में वे मेरा हालचाल पूछते, अपना देते और अक्सर ऐसे मौकों पर मैं कुछ सकुचाया हुआ सा बताता कि मैं उनको फोन करने की सोच ही रहा था, लेकिन वे मुझे अपने संकोच को झटक देने को कहा करते। मैं भी उन्हें फोन किया करता, लेकिन अक्सर कोई काम पड़ने पर ही।

उनका होना यह आश्वस्ति देता था कि उनका हाथ मेरे कंधों पर है। हालांकि वे बहुत सलाह नहीं देते थे, मगर उन्होंने एक सलाह मुझे दी थी। यह 'जनसत्ता' के दिनों की ही बात थी जब उनसे किसी ने मेरी शिकायत की कि मैं वहां आए पत्रों के जवाब नहीं देता। यह एक वैध शिकायत थी। जनसत्ता में रोज़ जो दर्जनों पत्र आते थे, उनका जवाब टलता जाता। ऐसा नहीं कि हम सब वहां काम के बोझ से दबे रहते थे। लेकिन एक तरह की अराजकता वहां कार्यसंस्कृति का हिस्सा थी। शायद तब यह समझ में भी ठीक से नहीं आता था कि जिन्होंने पत्र लिखे हैं, उन्हें उत्तर का इंतज़ार होता है। कई बार कुछ उत्तर अनिर्णय की स्थिति में भी छूटे रह जाते।

बहरहाल, तब मैने अनुपम जी को क्या सफाई दी थी, यह तो याद नहीं है, लेकिन उनकी सलाह थी कि मैं रोज़ 15-20 पोस्टकार्ड लिखने की आदत डालूं। उन्होंने कहा कि वे हर रोज सुबह बड़ी संख्या में पोस्टकार्ड लिखते हैं।

मैं उनकी सलाह पर अगले ही दिन जाकर डाकघर से तीस-चालीस पोस्टकार्ड ले आया था। रोज़ तीन-चार पोस्टकार्ड लिखने भी लगा। वाकई यह छोटी सी सलाह मेरे लिए काफी बड़ी साबित हुई। कई लेखकों और संघर्षशील फ्रीलांसरों से नियमित और उपयोगी संवाद हुआ। लेकिन बुरी आदतें खत्म़ होने में बहुत देर लगाती हैं। जब पहली बार लाए गए वे पोस्टकार्ड खत्म़ हो गए तो लिखने का सिलसिला भी बंद हो गया। बार-बार सोचता रहा कि डाकघर जाकर पोस्टकार्ड लाना है- यह मामूली सा काम नहीं हुआ और एक अच्छी आदत छूट गई।

लेकिन ऐसी अवज्ञाओं या अवहेलनाओं के कई प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद अनुपम जी का स्नेह मिलता रहा। 'आज भी खरे हैं तालाब' का नया संस्करण जब भी आता, वे उसकी जानकारी देते और एक प्रति मुझे भिजवाते। एक बार मैं उनके दफ्तर जाकर भी ये प्रतियां लाया। उन्हीं के सौजन्य से बिना खरीदे इस किताब की पांच-छह प्रतियां मैं दूसरों को बांट चुका हूं। जब मैं एनडीटीवी में आया तो मैंने इस किताब पर एक 'स्टोरी' करने की योजना बनाई। यह 2003 की बात है। मैंने गांधी शांति प्रतिष्ठान जाकर अनुपम जी का साक्षात्कार भी लिया और ढेर सारी तस्वीरें भी। लेकिन एकाध और विशेषज्ञों और किसी जानी-मानी हस्ती के 'बाइट्स' जोड़ने के इंतज़ार में वह खबर पड़ी रही। फिर एक दिन पता चला कि वह टेप से डिलिट हो गई है। मैं बहुत मायूस हुआ, शर्मिंदा भी- इतना कि यह कहानी उनको बता भी नहीं पाया। अनुपम जी ने भी कभी नहीं पूछा कि उस इंटरव्यू का क्या हुआ। वे पहले भी इसके पक्ष में नहीं थे। बरसों बाद जब रवीश ने एनडीटीवी के लिए अनुपम जी से एक घंटे की बातचीत की तो मुझे लगा कि कुछ क़र्ज़ मेरा भी उतर गया है। वैसे उनको टीवी पर लाना आसान काम नहीं था। वे ऐसी टीवी चर्चाओं से खुद़ को दूर रखते थे और विनम्रता से दूसरों के नाम सुझा देते थे।

उनसे हुए परिचय के इन 20 बरसों को पलट कर

देखता हूं तो जैसे अफ़सोस सा होता है। अनुपम जी से जितना ग्रहण कर सकता था, उतना कर नहीं पाया। उनसे मिलने के वादे स्थगित होते रहे। उनकी दी हुई छोटी-छोटी नसीहतें ज़िंदगी की भागदौड़ में खो गईं। दफ्तर की आवाजाही के बीच हड़बड़ाए से लेखन के अलावा कुछ और कर नहीं पाया। सिर्फ अनुपम जी ही नहीं, ऐसी और भी शख़्सियतें इन तमाम वर्षों में छूटती चली गईं जो हमारे लिए वैचारिक छाया का काम करती थीं। हम आज की तारीख़ मे जैसे एक बंजर में खड़े हैं और आसपास का वैचारिक सन्नाटा और भयावह होता जा रहा है।

इन तमाम बदलावों के बीच अनुपम जी नहीं बदले थे। उनके फोन आते रहते, नियमित सूचनाएं मिलती रहतीं। इनमें बस इतना जुड़ा कि अब वे अपने सहयोगियों की मदद से ईमेल भेजने-देखने का काम भी करते रहते थे। अपनी बीमारी के बीच ही उन्होंने फोन करके अपनी नई किताब 'समुद्र से मिलने की शिक्षा' के प्रकाशन की जानकारी दी थी। हालांकि यह काम भी वे इतनी हिचक के साथ करते थे जैसे आत्मश्लाघा का अपराध न हो जाए। इस किताब के बहाने मार्च या अप्रैल में 'नया ज्ञानोदय' में एक टिप्पणी उन पर लिखी थी। बाद में उनको उसे ईमेल भी किया था।

जब पहली बार यह खब़र मिली कि उनकी देह को कैंसर ने जकड़ लिया है तो मैं हैरान रह गया। इतना सात्विक जीवन जीने वाले व्यक्ति को यह रोग कैसे लग सकता है? वे इस दौरान अपनी कीमोथेरेपी और रेडिएशन की खबर भी बीच-बीच में साझा करते। मैं उनको देखने कभी नहीं गया- अपनी इस निष्ठुरता या संवेदनहीनता पर खुद भी हैरान होता हूं। हालांकि इस दौरान बीच-बीच में मैं लगातार फोन करता रहा, कभी उनसे बात हो जाती और कभी परिवार के लोगों से।

लेकिन आख़िरी फोन उन्हीं का आया था। यह शायद देहावसान से महीने भर पहले की बात होगी। वे तब भी अपनी काया और उसके कष्टों से निर्लिप्त थे और हम सबका हालचाल पूछ रहे थे। मैंने तय किया था कि वे कुछ ठीक हो जाएंगे तो उनके पास देर तक बैठूंगा। उन्होंने यह मौका नहीं दिया।

वे मुझे टीएस इलियट के नाटक 'मर्डर इन द कैथेड्रिल' के नायक रॉबर्ट बैकेट (या बैके?) की याद दिलाते थे। कैंटरबरी के उस आर्कबिशप ने अपने-आप को बड़ी सावधानी से सारे प्रलोभनों से दूर रखा था। धन, सत्ता और शक्ति के बाद असली प्रलोभन शहीद कहलाने का था जिससे मुक्त होना आसान नहीं था। लेकिन फादर बेकेट शहीद कहे जाने के प्रलोभन से भी ख़ुद को बचाते हैं। अनुपम जी भी प्रलोभनों से घिरी एक दुनिया में सारे प्रलोभनों से बचने वाले एक व्यक्ति की तरह मुझसे सबसे ज्यादा याद रहेंगे। उनकी सहजता और विनम्रता बिल्कुल कलेजा निकाल लेती। उनको देखकर समझ में आता था कि कमी वक्त की नहीं हमारी है जो हम बहे जा रहे हैं।

वे मौजूदा सामाजिक पर्यावरण में ओजोन परत जैसे थे। उनसे ऑक्सीजन मिलती थी, यह भरोसा मिलता था कि तापमान कभी इतना नहीं बढ़ेगा कि दुनिया जीने लायक न रह जाए। 20 दिसंबर को निगमबोध घाट के विद्युत शवदाहगृह में उनको अंतिम विदाई देते हुए यह खयाल भी आया कि धीरे-धीरे वे सारे लोग हमसे विदा हो रहे हैं जिनकी सांस्कृतिक और बौद्धिक छाया में हमारी तरह के लोग पले-बढ़े।

# शब्दों की चौकीदारी संभव नहीं

## अनुपम मिश्र से संजय तिवारी की बातचीत

अनुपम मिश्र पानी और पर्यावरण पर काम करने के लिए जाने जाते हैं लेकिन उनकी सर्वाधिक चर्चित पुस्तक आज भी खरे हैं तालाब के साथ उन्होंने एक ऐसा प्रयोग किया जिसका दूरगामी दृष्टि दिखती है। उन्होंने अपनी किताब पर किसी तरह का कापीराईट नहीं रखा। इस किताब की अब तक एक लाख से अधिक प्रतियां प्रकाशित हो चुकी हैं। मीडिया वर्तमान स्वरूप और कापीराईट के सवाल पर हमने विस्तृत बात की। यहां प्रस्तुत है बातचीत के प्रमुख अंश-

**कापीराईट को लेकर आपका नजरिया यह क्यों है कि हमें अपने ही लिखे पर अपना दावा (कापीराईट) नहीं करना चाहिए?**

कापीराईट क्या है इसके बारे में मैं बहुत जानता नहीं हूं। लेकिन मेरे मन में जो सवाल आये और उन सवालों के जवाब में मैंने जो जवाब तलाशे उसमें मैंने पाया कि आपका लिखा सिर्फ आपका नहीं है। आप एक जीवन में समाज के किस हिस्से कब और कितना सीखते, ग्रहण करते हैं इसकी कोई लाईन खींचना कठिन काम है। पहला सवाल तो यही है कि मेरे दिमाग में जो है वह क्या केवल मेरा ही है? अगर आप यह मानते हैं कि आपका लिखा सिर्फ आपका है तो फिर आपको बहुत कुछ नकारना होगा। अपने आपको एक ऐसी ईकाई साबित करना होगा जिसका किसी से कोई व्यवहार नहीं है। न कुल परिवार से न समाज से। क्योंकि हम कुल, परिवार, समाज में बड़े होते हुए ही बहुत कुछ सीखते हैं और उसी से हमारी समझ बनती है। अगर आप कापीराईट का इतिहास देखें तो पायेंगे कि हमारे समाज में कभी कापीराईट की कोई प्रवृत्ति नहीं थी। अपने यहां कठिनत श्रम से प्राप्त की गयी सिद्धि को भी सिर्फ सेवा के निमित्त उपयोग की जाती है। मीरा, तुलसी, सूरदास नानक ने जो कुछ बोला, लिखा वह सब हाथ से कापियां लिखी गयीं। तमिलनाडु में ऐसे हजारों ग्रंथ हैं जो हाथ से लिखे गये और हाथ से लिखे ग्रंथ भी दो-ढाई हजार साल अनवत शुद्धत्तम स्वरूप में जिंदा रहे हैं। इसलिए यह कहना कि कापीराईट से मूल सामग्री से छेड़छाड़ होनी बच जाती है ऐसा नहीं है। जिनका जिक्र मैं कर रहा हूं वे सब बिना कापीराईट के भी शुद्धतम स्वरूप में लंबे समय तक बची रही हैं और आज भी विद्यमान हैं। उनको तो किसी कापीराईट एक्ट की जरूरत महसूस नहीं हुई फिर आपको क्यों होती है?

कॉपीराईट का नियम अंग्रेजों के साथ भारत में आया लेकिन दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि किसी के मन में कभी यह सवाल और संदेह नहीं उठा कि आखिर हम कापीराईट का इस्तेमाल क्यों करें? महात्मा गांधी तक ने अपनी कापीराईट एक ट्रस्ट नवजीवन ट्रस्ट को पचास साल के लिए दे दिया था। अब पचास साल बाद गांधी के लिखे पर फिर कापीराईट हट गया है, तो फिर महज पचास साल के लिए इसका पालन करने से गांधी विचार भी नहीं बच सका। यह सब देखकर आश्चर्य होता ही है।

लेकिन आज के इस व्यावसायिक युग में किसी का लिखा उसका व्यवसाय भी हो सकता है जिससे उसके जिंदगी की गाड़ी चलती है। वो भला अपना लिखा समाज को अर्पित कर दे तो अपना गुजारा कैसे करेगा?

जिस दिन हम केवल कमाने के लिए लिखने लगेंगे उस दिन हमारे लिखने की गुणवत्ता भी गिर जाएगी। लिखना केवल पैसे के लिए नहीं होना चाहिए। कुछ लोग पैसे के लिए काम करते हैं तो भी उनको ध्यान रखना चाहिए कि वे जो लिखना चाहते हैं वह लिखें न कि पैसे देकर उनसे कोई कुछ लिखवाता है तो केवल वही न करते रहें। समाज ऋण भी कुछ होता है जिसको चुकाने की नैतिक जिम्मेदारी महसूस होनी चाहिए। अगर आप सिर्फ पैसे के लिए लिखेंगे तो कभी वह नहीं लिख पायेंगे जो आप लिखना चाहते थे। आप बाजार में अपना लिखा एक तराजू पर लेकर खड़े हो जाएं और अशर्फियों में बोली लगाना शुरू करेंगे तो मुश्किल होगी। फिर जो अशर्फी देगा वह आपके लिखे को ले जाएगा। असल में कापीराईट का व्यवसाय यह अशर्फी देनेवाला समाज पैदा करता है। क्योंकि उसको आपके लिखे से मुनाफा कमाना है। इसलिए लिखने वालों को यह जरूर सोचना चाहिए कि आखिर वे किसके लिए लिख रहे हैं? एक बात जान लीजिए, अशर्फी लेकर लिखने वाले लोग अस्तित्व में लंबे समय तक उपलब्ध नहीं रह पाते हैं। एक समय के प्रवाह में आते हैं और अशर्फी में तुलकर समाप्त हो जाते हैं। मुंबई फिल्म उद्योग में कम पैसा है? लेकिन जरा देखिए, कल के स्टार आज किस गर्त में पड़े हैं? यही आज के स्टारों के साथ कल होगा। यही बात लेखकों पर भी लागू

होती है। अच्छे लिखने वालों की कीमत बाजार में नहीं समाज में निर्धारित होनी चाहिए।

जहां तक आजीविका चलाने की बात है तो इसमें व्यावहारिक दिक्कत कम और मानसिक संकट ज्यादा है। अगर हम बुद्धि के श्रम के साथ थोड़ा शरीर का श्रम भी जोड़ दें तो दिक्कत नहीं होगी। आखिर क्यों हम केवल बुद्धि के श्रम की कमाई ही खाना चाहते हैं? यह तो विकार है। सड़क पर कूदने से अच्छा है कि थोड़ी देर खेत में कूद लो। थोड़ा श्रम करके पूंजी अर्जित कर लो। केवल अपने लिखे का मत खाओ। तब शायद ज्यादा अच्छा लिख सकोगे। ऐसा जीवन मत जियो जो केवल लिखने पर टिका हो।

**टेक्नॉलाजी के इस युग में कापीराईट कितना प्रासंगिक रह गया है?**

टेक्नालाजी और कापीराईट दो विरोधाभासी तत्व हैं। जब टेपरिकार्डर आया तो वह सूटकेस के आकार में था। आप किसी जगह भाषण देते थे तो वह रिकार्ड होना शुरू हो गया। इसके बाद टेपरिकार्डर का आकार छोटा होता गया और आज हम मोबाइल में ही सब कुछ रिकार्ड कर सकते हैं। अब सोचिए किसी के भाषण पर कापीराईट का अब क्या मतलब? मेरे बोले को कौन कैसे रिकार्ड करके कहां पहुंचा देगा, मैं भला कैसे जान पाऊंगा? जैसे टेपरिकार्डर ने एक तरह के कापीराईट को खत्म किया उसी तरह फोटोकापी मशीन ने लिखे के कापीराईट को अप्रासंगिक बना दिया। अब कम्प्यूटर ने तो सारी हदें तोड़ दी हैं। पहले तो हाथ से मजदूरी करके कापी करना होता था लेकिन टेक्नालाजी ने शेयरिंग का सब काम आसान कर दिया है। फिर क्यों झंझट मोल लेते हो? संभवतः टेक्नालाजी हमें बता रही है कि देखो राजा! शब्दों की चौकीदारी संभव नहीं। इसलिए इसका आग्रह छोड़ दो। जो संभव नहीं, उसका आग्रह रखने की क्या जरूरत है?

**आपने कहा कि केवल अपने लिखे का मत खाओ। क्या इसको आप थोड़ा और स्पष्ट करेंगे?**

ऐसा कहने का मेरा आशय है कि इतना अच्छा लिखो कि तुम्हारे लिखे का कोई और भी खाये। मैं ऐसा नहीं कह रहा कि आपके लिखे का सिर्फ प्रकाशक खाये। कुछ ऐसा लिखिए कि समाज के लोगों को कुछ फायदा हो। उनका जीवन सुधरे। उनका पानी रुके। उनका अकाल दूर हो। बाढ़ में चार गांव तैर जाएं। कुछ ऐसा लिख दो कि संकट में लोगों के लिए वह संबल की तरह काम आये। हो सकता है कि इसके लिए पैसा न मिले लेकिन बदले में और भी बहुत कुछ मिलेगा जो पैसे से ज्यादा कीमती होगा। लिखने वाली जमात को यह समझना होगा।

आपने अपने लिखे पर कभी कापीराईट नहीं रखा। क्या आपको जीवन में आर्थिक संकट नहीं उठाना पड़ा?

प्राप्ति सिर्फ पैसे की ही नहीं होती है। मुझे पैसा नहीं मिला लेकिन बदले में समाज का इतना प्यार मिला है जिसके सामने पैसे का कोई मोल नहीं है। मैं एक सामाजिक संस्था (गांधी शांति प्रतिष्ठान) में काम करता हूं और कल्पना से भी बहुत कम मानदेय प्राप्त करता हूं। लेकिन मुझे जीवन में न कोई शिकायत है और न ही कोई संकट। मैंने पैंतीस साल पहले ही तय कर लिया था कि मुझे अपने लिखे पर कोई कापीराईट नहीं रखना है और आज तक नहीं रखा और न आगे कभी होगा। कुछ अप्रिय प्रसंग जरूर आये लेकिन व्यापक तौर पर तो समाज का फायदा ही हुआ और बदले में मुझे उनका अथाह प्यार और सहयोग मिला। आप देखिए दुनिया में तो अब एक नया फैशन ही चल पड़ा है कापी लेफ्ट का। खुले समाज की नयी परिभाषाएं बन रही हैं तो फिर हम अपनी ओर से उस खुले समाज के गुल्लक में एक सिक्का क्यों नहीं डालते? अच्छी चीज को रोककर आखिर हम क्या करेंगे? अगर हम सब बातों में खुलापन चाहते हैं तो अपने ही लिखे पर प्रतिबंध क्यों लगाएं? वैसे भी अब टेक्नालाजी इसकी इजाजत नहीं देती है।

**क्या अधिकार का दावा छोड़ना ही एकमात्र रास्ता है?**

जी बिल्कुल। यही प्राकृतिक व्यवस्था है। क्या अनाज अपने ऊपर कापीराईट रखता है कि एक दाना बोएंगे तो सिर्फ एक दाना ही वापस मिलेगा? पेड़ पौधे अपने ऊपर कापीराईट रखते हैं? पानी अपने ऊपर कापीराईट रखता है? तो फिर विचार पर कापीराईट क्यों होना चाहिए? प्रकृति हमको सिखाती है कि चीजें फैलाने के लिए बनायी गयी हैं।

**कापीराईट और लाभ की मानसिकता ने क्या चौथे खंभे पत्रकारिता के सामने भी संकट पैदा किया है?**

पहले तो इसे चौथा खंभा क्यों कहते हो? हमने एक काल्पनिक महल खड़ा कर लिया जिसके चार खंभे बना लिये हैं। मुझे तो चारो खभों के बारे में शक है। ऐसे खंभे पर टिकाते जाएं तो फिर बारहखंभा में क्या दुर्गुण है? सड़क पर एक हवेली थी उसमें बारह खंभे थे इसलिए उसका नाम बारह खंभा हो गया। ये लोकतंत्र के सभी खंभे बालू की भीत में लगे हवा के खंभे हैं। चौथा खंभा भी खंभा नहीं बल्कि खोमचा है। आप देखिए अब खबरें बिक रही हैं तो आप इसे खंभा कहेंगे या फिर खोमचा? इस खोमचे में काम करनेवाले पत्रकार भी इस पतन के लिए उतने ही जिम्मेदार हैं जितने खोमचे के मालिक। पत्रकार अपनी जिम्मेदारी से बच नहीं सकते।

साभार : विस्फोट डॉट कॉम

# ये क्या हाल बना दिया है!

**फिदेल कास्त्रो**

आज को विश्व अर्थव्यवस्था जितनी शोषण तथा लूट पर आधरित है उतनी मानवजाति के इतिहास में पहले कभी नहीं थी। आज विश्व अर्थव्यवस्था एक प्रचंड बड़े केसिनो, जुआघर जैसी है। कहा जाता है कि जब व्यापार में एक डालर खर्च होता है तब एक सौ लाडर से ज्यादा की हेरफेर सट्टेबाजी की लेन-देन में होती है। जिसका वास्तविक अर्थतंत्र के साथ दूर-दूर का संबंध नहीं होता है। मौजूदा अर्थतंत्र के परिणामस्वरूप विश्व को 75 फीसदी से अधिक आबादी आज भी अविकसित अवस्था में जी रही है। तीसरी दुनिया के देशों में कंगाली की अवस्था में जीने वाले लोगों की तादाद 1 अरब 20 करोड़ तक पहुँच गई है। 1980 में दुनिया के सर्वाधिक धनाढ्य देशों की आमदनी सर्वाधिक विपन्न देशों की आमदनी से 37 गुना अधिक थी, आज यह 74 गुना अधिक हो गई है। अर्थात् गरीबी और अमीरी के बीच की खाई पटने की बजाए लगातार गहरी होती जा रही है। यह विषमता इस सीमा को पार कर चुकी है कि सर्वाधिक धनी मात्र तीन व्यक्तियों की आय सर्वाधिक गरीब 48 देशों की सम्मिलित राष्ट्रीय पैदावार के बराबर है।

2001 में भूख से लड़ रहे लोगों की संख्या 82 करोड़ तक पहुँच रही थी। आज की तारीख में 85 करोड़ प्रौढ़ अशिक्षित है, जबकि 32 करोड़ बालक पाठशाला के आंगन पर कदम नहीं रख पा रहे हैं। दो अरब लोगों की डॉक्टरी देखभाल की व्यवस्था नहीं है। लगभग ढाई अरब लोग सफाई, मलमूत्र की निकासी आदि सामान्य स्वच्छता की सुविधाओं से वंचित हैं। हर साल एक करोड़ दस लाख बच्चे इलाज और पूरी देखभाल के अभाव में पाँच वर्ष की उम्र तक पहुँचने के पहले मर जाते हैं जब कि एक दशक में पाँच लाख से अधिक बच्चे विटामिन ए की कमी से अंधे हो रहे हैं। विकसित देशों की औसत आयु अफ्रीका के अत्यन्त पिछड़े इलाकों की औसत आयु से 30 वर्ष अधिक है। इस विषमता को नस्लों का खात्मा भी कहा जा सकता है।

इन परिस्थितियों के लिए गरीब देशों को कोई दोष नहीं दिया जा सकता है। इन देशों ने न तो सदियों तक सभी महाद्वीपों को अपने कब्जे में रखा है, न तो उन्हें लूटा है। इन देशों ने कहीं जाकर न अपने प्रतिष्ठान स्थापित किए हैं और न ही धन उगाही के लिए गुलामी की प्रथा चलाई है। इन देशों ने दुनिया भर के देशों को साम्राज्यवाद के शिकंजे में कस कर भी नहीं रखा है। दरअसल यह सभी देश इन काली करतूतों के शिकार बने हैं। इसलिए इन वंचित व दलित देशों के त्वरित विकास के लिए जो वित्त चाहिए उसे पूरा करने का उत्तरदायित्व ऐसे धनाढ्य देशों का है। दुनिया के अन्य लोगों पर ऐसे कहर बरपा कर ही वे धनाढ्य बने हैं। आज जो उनकी अमीरी है वह भयंकर शोषण तथा लूट का परिणाम है।

आपने बहुत शोषण किया, बहुत लाभ कमाया। जिस पर इन गरीब देशों पर विदेशी कर्ज का कमरतोड़ बोझ डालकर आप उन्हें निचोड़ रहे हैं। कम से कम इस बोझ को उनके सिर से उतारिए। इन देशों की विदेशी देनदारी माफ करें तथा उन्हें सस्ते ब्याज दर पर ऋण दें। विदेशी मदद की बातें पूरी तरह भ्रामक हैं। इसके लिए दिए गए वचनों का पालन नहीं होता है और इसकी राशि भी बहुत मामूली होती है। वास्तविक व टिकाऊ आर्थिक तथा सामाजिक विकास के लिए बहुत कुछ किया जाना बाकी है। इसकी घोषणाएँ भी हुई हैं। सट्टाखोरी बन्द कीजिए। विदेशी पूँजी की शेयर बाजारू हेराफेरी बंद कीजिए। विश्ववैंक और मुद्राकोष को दरकिनार कीजिए। सभी देशों का जिसमें समान प्रतिनिधित्व हो तथा जिसका संचालन लोकतांत्रिक तरीके से हो, संयुक्त राष्ट्र की ऐसी एजेन्सी द्वारा विकास के लिए मदद की व्यवस्था कीजिए। मदद लेने में किसी देश को अपनी स्वतंत्रता और स्वयतत्ता की आहुति न देनी पड़े। धनाढ्य देशों द्वारा यहाँ जो मसविदा रखा गया है वह हमारी संपूर्ण मानहानि करता है, जले पर नमक छिड़कने वाला है।

नयी विश्व अर्थव्यवस्था पर जड़मूल से पुनर्विचार होना चाहिए। विश्वबैंक, मुद्राकोष आदि की स्थापना के पीछे समानता पर आधारित विश्व का कोई दूरगामी दर्शन नहीं था। धनाढ्य और पश्चिमी देशों के हितों के अनुरूप ही उनकी व्यवस्था की गई थी। धनी देशों को विशेषाधिकार मिले थे तथा प्रबंध ऐसा था कि इन देशों के हित ही साधे गए थे। फलस्वरूप दुनिया आज बहुत बड़े संकट में फंस चुकी है। आप यही ढाँचा बनाए रखना चाहेंगे तब यह संकट और

गहराता जाएगा। गरीब और भूख से लड़ रहे लोगों की संख्या बढ़ती जाएगी तथा मानवजाति के बड़े हिस्से का भविष्य कंगाल बनता जाएगा।

इस विषय पर गंभीरता से विचार करने का वक्त आ चुका है। जड़मूल से परिवर्तन आज के वक्त का तकाजा है। ऐसा न करके जिस आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था ने दुनिया को इस विषय परिस्थिति में खड़ा कर दिया है उसी व्यवस्था को हमारे सिर पर थोपे रखना, निहायत अवलविहीन बात है, बुद्धि का दिवाला है। शस्त्रास्त्रों का जखीरा रखना आप ने कहाँ छोड़ा है? यह शस्त्रास्त्र अशिक्षितों, बीमारों, गरीबों और भूख से लड़ रहे लोगों का खात्मा कर देंगे, परन्तु अज्ञानता गरीबी, भूखमरी, बीमारी आदि का खात्मा ये कभी नहीं कर पाएंगे। इन शास्त्रास्त्रों से निजात पाओ। मानवजाति को उबारने के लिए तत्काल कुछ करना ही पड़ेगा। आज जैसी है उससे बेहतर दुनिया बनाई जा सकती है, अवश्य बनाई जा सकती है।

('विकास हेतु वित्तीय प्रबंधन' शिखर सम्मेलन में दिए गए भाषण का संपादित और अनुदित अंश 2002)

# नफरत से टकराना यानी रोहित वेमुला हो जाना है

**नासिरूद्दीन**

'गुड मॉर्निंग, जब आप सब यह खत पढ़ रहे होंगे, मैं आपसे दूर चला जा चुका होऊंगा।। मैं इस तरह की चिट्ठी पहली बार लिख रहा हूं। पहली बार, आखिरी खत'ष्ठ

यह वाक्य रोहित वेमुला ने 17 जनवरी 2016 को लिखा था। यही उनकी जिंदगी का आखिरी दिन था। आज उनकी मौत को एक साल हो रहे हैं। इस एक साल में रोहित वेमुला की पहचान, हैदराबाद विश्वविद्यालय के दायरे से बाहर निकल कर पूरे देश में फैल गई है। वह कई पहचानों को समेट कर नई पहचान बन गए हैं।

इसलिए, आज जगह-जगह रोहित के संगी-साथी उसे अलग-अलग तरीके से याद कर रहे हैं। इनमें से ज्यादातर तो ऐसे साथी हैं, जो उनकी मौत के बाद उनके नजदीक आए हैं। रोहित के साथ मुल्क भर के नौजवान लड़कियों-लड़कों की यह नजदीकी बताती है कि रोहित की मौत महज एक इत्तेफाक नहीं थी। जैसा बताने की कोशिश होती है, न ही वह खुद अपनी मौत की वजह थे। न ही यह महज कोई उनका अपना निजी मसला था। रोहित की मौत ने उस तार को छेड़ा है, जिसका राग हम समाज सुनने से परहेज करते रहे हैं।

समाज में हाशिए पर छोड़ दिए गए तबकों के बच्चियां-बच्चे जिंदगी से जूझते हुए, ऊंची तालीम देने वाली जगहों पर पहले से काफी ज्यादा तादाद में दस्तक दे रहे हैं। उनके लिए तालीम महज नौकरी पाने का जरिया नहीं है बल्कि वह तो सामाजिक-आर्थिक बदलाव का हथियार भी है। सम्मान से जीने के हक की लड़ाई लड़ने का औजार है। उनके लिए कैम्पस विचारों से लैस होने की जगह भी है। सामाजिक जिंदगी में पग-पग पर नफरत, भेद-भाव, तिरस्कार उनका भोगा हुआ सच है। जब वे 'ज्ञान के मंदिरों' में दाखिल होते हैं, तो यहां भी वही सच भोगना पड़ता है। ज्यादातर ज्ञान के मंदिर इस सच से टकराते नहीं हैं। बल्कि वे तो इस सच को ढक कर रखना चाहते हैं। इस 'मंदिर के पुजारी' यहां भी उनके साथ वैसा ही सुलूक करते हैं, जैसा समाज में इनके साथ होता रहा है। जाहिर है, ज्ञानी मनुष्य के नफरत करने का तरीका वही नहीं होगा, जो एक आम सामंती इंसान का होता है। 'ज्ञान के मंदिर' में वह अपने बुद्धि बल का इस्तेमाल करते हैं। इसी बुद्धि के जरिए भेदभाव की व्यवस्था को बनाए रखने की कोशिश करते हैं। इस व्यवस्था पर अगर कोई किसी भी तरह का सवाल उठाता है तो वे असलियत में इसे अपनी सत्ता को चुनौती की तरह लेते हैं। फिर वे उसे बख्शते नहीं हैं।

रोहित और उनके दोस्तों ने नफरत की इसी व्यवस्था से टकराने की कोशिश की। सवाल उठाए। उन्हें भी चुनौती माना गया। मौका देखकर, उनकी 'अकादमिक हत्या' करने की कोशिश की गई। उन्हें कैम्पस से बाहर करके उन्हें ज़ेहनी तौर पर तोड़ने और सम्मान से उठे उनके सिरों को झुकाने की पुरजोर कोशिश की गई।

जरूरी नहीं कि एक ही घटना का सब पर एक जैसा असर हो। ऐसा लगता है कि रोहित को यह सब बेहद

अपमानजनक और इंसानियत से गिरी हुई चीज लगी। हालात से मायूसी भी कम नहीं हुई। तब ही तो उन्होंने मौत से ठीक एक महीने पहले तंज में ही सही वीसी को चिट्ठी लिख दलित स्टूडेंटों को जहर और फांसी का फंदा मुहैया कराने को कहा। यही नहीं, अपने लिए इच्छा मृत्यु की मांग भी की। दलित छात्र की हालत बयान करने के लिए यही बात काफी है।

वही रोहित 17 जनवरी को फिर पूरी दुनिया को लिखते हैं, 'ष्ठकिसी शख्स की कीमत महज उसकी औचक पहचान में समेट कर रख दी गई है। उसकी कीमत महज उसके जरिए लिए जाने वाले फायदे तक सिमट गई है। वह सिर्फ़ एक वोट बन कर रह गया है। उसे सिर्फ आंकड़ा बना दिया गया है। कभी किसी शख्स की हैसियत उसकी दिमागी काबिलियत से नहीं आंकी गईष्ठ कुछ लोगों के लिए उनकी जिंदगी ही लानत और बद्दुआ है। मेरी पैदाइश, मेरा जानलेवा हादसा है। ष्ठ मैं इस वक़्त दुखी नहीं हूं। मैं उदास भी नहीं हूं। बस खाली-खाली सा महसूस हो रहा है। अपने आप से बेपरवाह। यही नाउम्मीदी है। और इसलिए मैं यह कर रहा हूं'।

और इसके बाद रोहित नहीं रहे। उन्हें जिंदा नहीं रहने दिया गया। कहने को तो यह खुदकुशी थी। हालांकि, जिनके लिए जीने लायक हालात ही न छोड़े जाएं, जिन्हें मौत की ओर धकेल दिया जाए, जिनके लिए अपनी बात कहने और सुनाने के लिए मौत के अलावा और कोई रास्ता न छोड़ा जाएष्ठ उनकी मौत सिर्फ और सिर्फ हत्या ही हो सकती है। रोहित की भी हत्या की गई। तब ही, इस हत्या पर पर्दा डालने के लिए हैदराबाद से दिल्ली तक लामबंदी हो गई थी। मगर इस लामबंदी से वे सवाल नहीं दब पाए, जो रोहित ने उठाए थे और जो उनकी मौत से उपजे थे।

इसीलिए, मौत के बाद से रोहित की पहचान, समाज, राजनीति और ज्ञान के मंदिरों में पसरे नफरत के शिकार और उसके खिलाफ आवाज उठाने वाले रोहित के रूप में देशव्यापी हो गई। गौरतलब है, निर्भया कांड के बाद उभरे जन आंदोलन की मांग पर यौन हिंसा से जुड़े कानूनों में बड़े बदलाव किए गए थे। ठीक इसी तरह किसी और मेधावी रोहित को नफरत और भेदभाव की वजह से जान न देनी पड़े, इसके लिए एक अलग कानून बनाने की मांग उठी। इसे 'रोहित वेमुला एक्ट' का नाम दिया गया।

और ऐसा लग रहा था कि समाज, राजनीति और ज्ञान के मंदिर सभी अपने अंदर झांकेंगे। शायद प्रायश्चित भी करेंगेष्ठ और दिखावे के लिए ही सही, वे 'ज्ञान के मंदिरों' से नफरत दूर करने के लिए 'रोहित वेमुला एक्ट' जैसे कुछ सख्त कदम उठाएंगे। हालांकि, ऐसा नहीं हुआ। बल्कि जिन शख्सियतों पर रोहित की मौत का आरोप है, वे जस के तस हैं। यही नहीं, उन्हें सम्मान से भी नवाजा जा रहा है। दूसरी तरफ, दलित विद्यार्थियों की आवाज दबाने के लिए अलग-अलग विश्वविद्यालयों में कार्रवाइयों का सिलसिला बदस्तूर जारी है।

शायद हमारे समाज के बड़े पढ़े-लिखे और फैसले लेने वाली हर जगह पर पांव जमाए बैठे मजबूत तबके के लिए रोहित के साथ हुई नाइंसाफी कोई ऐसा सवाल नहीं है, जिस पर वे अपना वक्त लगाना पसंद करें। तब ही तो वे रोहित को झुठलाने, राष्ट्रद्रोही साबित करने, दलित होने न होने पर ज्यादा ध्यान लगा रहे हैं। उसकी मां और भाई का जीना दुश्वार कर दिया है। यह हमारे सभ्य समाज कमाल है। वह इंसाफ के लिए नहीं, नाइंसाफी बरकरार रहे- इसमें जुटा है। लेकिन रोहित की मौत के बाद उनकी मां राधिका वेमुला देश में अलग-अलग जगहों पर भेदभाव नाइंसाफी के खिलाफ और नौजवानों के साथ जद्दोज़हद कर रही हैं। हाल ही में एक इंटरव्यू में उन्होंने कहा कि काश, हमारी पीढ़ी के लोगों ने नाइंसाफी और गैरबराबरी के खिलाफ लड़ाई लड़ी होती तो आज रोहित हमारे साथ होता। कोई और स्टूडेंट इस तरह के भेदभाव और नाइंसाफी का शिकार न हो, इसलिए मैं यह लड़ाई लड़ रही हूं। यह शिद्दत 'सभ्य समाज' में कितने लोगों के पास है?

लेकिन ऐसा भी नहीं है कि कहीं भी यह गर्माहट और शिद्दत नहीं है। हाशिए के समाज के नौजवान लाख मुश्किलों के बाद भी अब बड़ी तादाद में केन्द्र में आने की कोशिश में जुटे हैं। वे अपनी पिछली पीढ़ी की तरह मूक नहीं हैं। वे मुखर हैं। वे ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले, फातिमा शेख, बिरसा मुंडा, पेरियार, बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर, भगत सिंह के विचारों से अपने को जोड़ते हैं। वे सबकुछ दांव पर लगाकर नफरत और नाइंसाफी से टकरा रहे हैं। वे रोहित वेमुला हैं। रोहित वेमूला जैसे मरा नहीं करते हैं। वे तो बीज हैं। पौधों की तरह उग आते हैं। बेल की तरह फैल जाते हैं। फैल रहे हैं। भगत सिंह के शब्दों में विचार हवा में तैरते हैं और बिजली की मानिंद चमकते हैं। रोहित भी तो अब एक विचार हैं।

नासिरूद्दीन पत्रकार हैं। सामाजिक मुद्दों पर लिखते रहे हैं। कई दिनों तक पत्रकारिता करने के बाद अब पूरा वक़्त लेखन को दे रहे हैं। उनसे nasiruddinhk@gmail.com पर संपर्क किया जा सकता है।

# मुस्लिम औरतें : बदलाव की ऐतिहासिक मांग

**ज्योति पुनवानी**

तीन तलाक की प्रणाली को खत्म करने के लिए मौजूदा राष्ट्रीय बहस में अनेक मुस्लिम महिलाएँ और उनके संगठन शामिल हैं। यह माहौल सर्वोच्च न्यायालय में जनहित याचिका की सुनवाई के चलते बना है। इसी कारण यह पूर्व के शाहबानो मामले से एकदम अलग है। शाहबानो अपने मामले में अदालत गई थी और उसके बाद मुस्लिम महिलाओं के विवाह एवं तलाक से जुड़े मुद्दे चर्चा में आए थे। अभी भी उलेमाओं एवं आइ इंडिया मुस्लिम पर्सनल का बोर्ड के नज़रिये में कोई फर्क नहीं आया है।

तीन तलाक का मुद्दा एख बार फिर से समाचारों में है और उसने राष्ट्रीय बहस का रूप ले लिया है। यह किसी फतवा या निर्णय की प्रतिक्रिया में भी नहीं है, बल्कि मुस्लिम महिलाओं द्वारा उठाया गया है और सर्वोच्च न्यायालय में भी इस पर बहस हो रही है।

इस विवाद में सितंबर में दो अप्रत्याशित बातें जुड़ीं आंध्र प्रदेश अल्पसंख्यक आयोग के अध्यक्ष आविद रसूल खान ने प्रेस को यह बताया कि उन्होंने आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल का बोर्ड को तीन तलाक का समर्थन बंद करने को लिखा है। तीन तलाक भारतीय सुन्नी मुसलमानों में तलाक का एक सामान्य रूप है। इसके तहत पति अपनी पत्नी को लिखित या मौखिक रूप से तीन बार 'तलाक' कहकर उसकी अनुपस्थिति में भी तुरंत तलाक दे देता है। खान ने अपने पत्र में लिखा है कि यदि बोर्ड द्वारा ऐसा नहीं किया जाता है तो धीरे-धीरे मुस्लिम पर्सनल ला अपनी पहचान खोते जाएँगे और समान सिविल कोड का रास्ता बनेगा।

इसके बाद ही सामाजिक कार्यकर्ता अब्दुल रजक मनियर द्वारा संचालित संस्था पब्लिक कांप्लेंट सेंटर ने मस्जिदों के बाहर पोस्टर लगाए। इस पोस्टर में 'तीन तलाक' का सहारा लेने वाले मुस्लिम पुरुषों के लिए यह चेतावनी थी कि वे अदालत में खींचे जाने जेल जाने, एवं अपनी पत्नियों को भारी राशि देने के लिए तैयार रहें। उल्लेखनीय है कि मनियर मुंबई के पुराने मुस्लिम मुहल्लों में पारिवारिक विवाद को सुलझाने का कार्य वर्षों से करते रहे हैं।

ये दोनों बातें ऐतिहासिक हैं, क्योंकि 'तीन तलाक' के विरूद्ध सार्वजनिक रूप से सामने आने वाले दोनों व्यक्ति अपने समाज में रूढ़िवादी मुसलमान के रूप में जाने जाते हैं। आंध्र प्रदेश अल्पसंख्यक आयोग के अध्यक्ष कांग्रेसी है और उनका यह मानना है कि मुस्लिम महिलाओं को दरगाह में नहीं जाना चाहिए। मनियर यह मानते हैं कि पर्सनल ला पर उलेमाओ का निर्णय अंतिम है।

**विवाद का जन्म**

यह जानना महत्वपूर्ण है कि मौज़ूदा विवाद कैसे शुरू हुआ। सर्वोच्च न्यायालय में, अक्टूबर 2015 में, न्यायमूर्ति अनिल आर दवे और आदर्श कुमार गोयल की पीठ में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 2005 के अन्तर्गत हिंदू महिलाओं के अधिकार से संबंधित सुनवाई चल रही थी। वकीलों ने बहस के दौरान मुस्लिम महिलाओं के भी भेद-भाव से पीड़ित होने की ओर ध्यान दिलाया। तत्काल ही न्यायालय ने जनहित याचिका दाखिल करने का निर्देश दिया कि कैसे मुस्लिम पर्सनल ला के अन्तर्गत मुस्लिम महिलाएँ मनमाने तलाक एवं वहुविवाह के कारण मूलभूत संवैधानिक अधिकारों से वंचित हो रही हैं।

मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में गठित पीठ के सामने फरवरी 2016 में जनहित याचिका दाखिल की गई, जिसका विषय था, 'मुस्लिम महिलाओं के लिए समानता'। न्यायालय ने एटार्नी जनरल को इस मामले में सहायता के लिए कहा। इसके साथ ही जमीयत उलेमा ए हिंद के इस मामले में पक्षकार बनने के आवेदन को भी स्वीकार कर लिया गया। जमीयत उलेमा ए हिंद ने कहा कि मुस्लिम पर्सनल ला को मूलभूत अधिकारों के उल्लंघन के लिए चुनौती नहीं दी जा सकती, क्योंकि इसे विधायिका द्वारा नहीं पारित किया गया है; बल्कि कुरान से लिया गया है। इसीलिए यह 'प्रचलित कानून' की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आता। आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड भी इसमें शामिल हो गया।

इसी बीच अन्य गतिविधियाँ भी हुईं।

दिसंबर 2015 में भारतीय जनता पार्टी से जुड़े एक वकील ने समान नागरिक संहिता को अधिनियमित करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय में जनहित याचिका दाखिल की। मुख्य न्यायाधीश टी. एस. ठाकुर ने जनहित याचिका पर सुनवाई से इंकार कर दिया। उन्होंने कहा कि न्यायालय की

यही धारणा रही है कि समान नागरिक संहिता बनाने का कार्य विधायिका का है। उन्होंने याचिकाकर्ता के मुस्लिम महिलाओं के अधिकार के प्रति तथाकथित चिंता पर भी सवाल उठाया। मुख्य न्यायधीश ने कहा कि किसी भी मुस्लिम महिला ने इस आधार पर तीन तलाक पर सवाल नहीं उठाया है कि यह भेदभाव पूर्ण है। उन्होंने आगे कहा, ''यदि कोई तीन तलाक का पीड़ित न्यायालय आता है और इस प्रक्रिया की वैधता पर सवाल उठाता है, तब हम निश्चित ही तीन तलाक की वैधता का परीक्षण करेंगे और यह देखेंगे कि इससे मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन हो रहा है अथवा नहीं।''[1]

दो महीने के बाद इस तरह की पहली महिला अदालत में गई। उत्तराखंड की 35 वर्षीय शायरा बानो ने अपनी याचिका में मुस्लिम पर्सनल ला के अन्तर्गत तीन तलाक, हलाला और बहुविवाह को खत्म करने का अनुरोध किया, क्यों कि यह संविधान द्वारा प्रदत्त मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन है। अपमानजनक वैवाहिक जीवन के 13 वर्ष बाद याचिकाकर्ता को अपने ससुराल में स्पीड पोस्ट से तीन तलाक प्राप्त हुआ। हलाला एक जटिल विधि है, जिसके अन्तर्गत कोई तलाकशुदा महिला अपने पति से पुनः विवाह कर सकती है, लोकिन उनके पूर्व उसे किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह करना होता है, उसके साथ दंपति की तरह रहना होता है और फिर तलाक प्राप्त करना होता है।

मार्च में केरल की महिला समूह निसा, की 60 वर्षीय उत्साही नेता वी.पी. जोहरा ने इसी तरह का वाद सर्वोच्च न्यायालय में दाखिल किया।

मई में जयपुर निवास 28 वर्षीय अफरीन रहमान ने भारतीय मुस्लिम महिला आंदोलन की सहायता से सर्वोच्च न्यायालय में वाद दाखिल किया। उन्हें भी 17 महीने के वैवाहिक जीवन के दौरान शारीरिक उत्पीड़न से गुजरना पड़ा था और मायके में रहते हुए ही शायरा बानो की तरह स्पीड पोस्ट से तलाक प्राप्त हुआ था। उनकी याचिका को शायरा वानो की याचिका के साथ जोड़ दिया गया।

भारतीय मुस्लिम महिला आंदोलन ने 10 राज्यों में 4,710 मुस्लिम महिलाओं का सर्वेक्षण किया था। सर्वेक्षण में यह पाया गया कि 88% महिलाएँ तीन तलाक पर प्रतिबंध चाहती हैं। उसने इस मामले में पक्षकार बनने के लिए भी आवेदन किया। यह कार्य 70 वर्षीय भूतपूर्व विधायक बदर सईद ने किया, जिन्हें 2004 में तमिलनाडु की प्रथम महिला एडिशनल एडवोकेट जनरल बनाया गया था। 1992 में सईद खुद ही वकील मोहम्मद जवाद द्वारा दायर की गई एक याचिका के साथ जुड़ गई थी, जिसे जिये तीन तलाक खत्म करने के लिए मद्रास हाईकोर्ट के समक्ष दाखिल किया गया था। 2002 में तीन तलाक के विरुद्ध याचिका कर्ता की बहस को स्वीकार करते हुए, न्यायालय ने यह कहते हुए याचिका को खारिज कर दिया कि याचिका कर्ता की मांग को सिर्फ विधायिका ही पूरा कर सकती है। (ए एस प्रवीन अख्तर बनाम भारत संघ)[2] 2013 में सईद ने यह याचिका दाखिल की कि तलाक जारी करने का अधिकार काजी के पास न होकर केवल अदालत के पास होना चाहिए।

जून में राष्ट्रवादी मुस्लिम महिला संघ, लखनऊ से संबद्ध राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की वकील फराह फैत्र ने मुस्लिम पर्सनल ला के कोडिफिकेशन के लिए आवेदन दाखिल किया।

अगस्त में कोलकता की इशरत जहाँ सर्वोच्च न्यायालय में तीन तलाक की संवैधानिक वैधता को चुनौती देने वाली तीसरी तलाकशुदा महिला बन गईं। उन्होंने यह सवाल उठाया है कि क्या मुस्लिम तलाकशुदा होने के कारण उन्हें अपने ससुराल और बच्चों पर अधिकार से वंचित किया जा सकता है। उन्हें विवाह के 15 वर्ष पश्चात् दुबई में रहने वाले पति ने फोन पर तलाक दिया था।

शायरा बानो के मामले में दो अन्य मुस्लिम संगठन भी शामिल हो गए हैं। पहला है, बेबाक कलेक्टिव, जिसमें अनेक नारीवादी समूह शामिल हैं। इनका विश्वास है कि तीन तलाक को खत्म किया जाना चाहिए, क्योंकि यह असंवैधानिक है और दूसरा लखनऊ का आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड। इन सभी याचिकाओं पर सुनवाई सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के बाद दाखिल याचिका के साथ ही होनी है।

केन्द्र ने भी अपना हलफनामा दाखिल किया है, जिसमें कहा गया है कि तीन तलाक को खत्म किया जाना चाहिए, क्योंकि यह मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन है और यह इस्लाम का अभिन्न एवं अनिवार्य तत्व नहीं है।

**परिवर्तनकामी औरतें:**

यह मामला इसलिए भी ऐतिहासिक है कि मुस्लिम औरतें अचानक से नहीं जग गई हैं। तीस वर्ष से ज्यादा हुए जब 1984 में मुंबई की प्रथम नारीवादी मुस्लिम समूह आवाज ए निसवां की नेता युवा शहनाज शेख ने सर्वोच्च न्यायालय में मुस्लिम पर्सनल ला का यह कहते हुए चुनौती दी कि उसमें समानता के अधिकार का उल्लंघन होता है। एक वर्ष पश्चात 1985 में शाहबानो मामले में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय आया। इस निर्णय में सीआर.पी.सी. की धारा 125 अन्तर्गत तलाकशुदा मुस्लिम महिला को आजीवन गुजारा भत्ता देने का निर्णय दिया गया था। लेकिन

इस निर्णय में पैगम्बर मुहम्मद के बारे में की गई टिप्पणी से इसके विरूद्ध देश व्यापी अभियान छिड़ गया। इससे बाध्य होकर शाहबानो ने अपने कानूनी विजय का भी त्याग कर दिया।

एक नया कानून मुस्लिम महिला (तलाक संबंधी संरक्षण का अधिकार) अनिनियम 1986 पारित किया गया। विडंबना यह है कि इस कानून के तहत मुस्लिम तलाकशुदा महिलाओं को सीआर पी.सी. की धारा 125 की सीमा से बाहर कर दिया गया। यह कार्य कुछ मुस्लिम धार्मिक समूहों के आक्रोश को शांत करने के लिए किया गया। इसी वर्ष हिंदू मानना को तुष्ट करने के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने अयोध्या में 16वीं शताब्दी की बाबरी मस्जिद में लगे ताले को खोलने की अनुमति दी। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ द्वारा चलाए गए आक्रमक अभियान के बाद 6 दिसम्बर 1992 को मस्जिद ढह गई। इसके बाद देश व्यापी दंगे हुए। इस स्थिति में शहनाज शेख ने अपनी याचिका वापस ले ली। उन्हें लगा कि पहले से ही ध्वंस के शिकार इस समुदाय के पर्सनल ला में अदालत के जरिये हस्तक्षेप करने का यह सही समय नहीं है।

**सफर में अकेले नहींः**

शाहबानो और शहनाज शेख दोनों ही अकेली योद्धा थीं। आज कोई भी मुस्लिम महिला मुस्लिम पर्सनल ला को चुनौती देने के मामले में अकेले नहीं होगी, क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय में मुकदमा दाखिल करने वाली अच्छी खासी महिलाओं का साक्ष्य उपलब्ध है। यही कारण है कि आज की लड़ाई ऐतिहासिक है।

मुस्लिम महिलाएँ पहले से ही तीन तलाक एवं बहुविवाह की ईमानदार विरोधी रही हैं। शाहबानो विवाद के समय इस लेखिका ने मुस्लिम तलाकशुदा महिलाओं के बीच एक सर्वेक्षण किया था। सर्वेक्षण में यह पाया गया कि वे सभी गरीब तलाकशुदा महिलाएँ जो सीआर.पी.जी. की धारा 125 के अन्तर्गत गुजारा भत्ता पाने के लिए अदालत का नियमित चक्कर लगा रही है, तीन तलाक को खत्म करना चाहती है। वे सवाल पूछती हैं कि उन्हें कितनी आसानी से तलाक दे दिया जाता है, जबकि हिंदू महिलाओं के साथ ऐसा नहीं है। हमारे लिए भी हिंदुओं की तरह कानून क्यों नहीं है? उन्हें बहुविवाह से भी घृणा है। अदालतों को रिकार्ड से यह बात सामने आती है कि महिलाएँ मुख्य रूप से पति के दूसरे विवाह के बाद ही तलाक के लिए आवेदन करती हैं या फिर तब करती हैं, जब उनके पहले से ही विवाहित होने का पता चलता है। त्रासदी यह है कि न तो उनके नेता, न ही सरकार कानून बनाने के पहले गरीब तलाकशुदा मुस्लिम महिलाओं की राय जानने का प्रयास करती हैं, जबकि इनका सबसे ज्यादा असर उन्हीं पर पड़ता है।

महिलाएँ उसी समय से तीन तलाक एवं बहुविवाह का विरोध कर रही हैं, जब इस मुद्दे पर एक फतवा या कहें निर्णय सामने आया था। 1993 में अहले हदीस ने एक फतवा जारी किया था, जिसमें कहा गया था कि तीन तलाक, तलाक का एक अवैध रूप है और इसे तलाक के एक उच्चारण के समान माना जाना चाहिए, इसीलिए यह निरस्त करने योग्य है। बोर्ड के मुसलमानो द्वारा यह माँग की गई कि अहले हदीस के फतवे को नियम माना जाए और तीन तलाक को खत्म किया जाए। इस्लाम के विद्वान और पूर्व मंत्री रफीक जकारिया ने संसद के मुस्लिम सदस्यों से अहले हदीस के फतबा के आधार पर कानून बनवाने का अनुरोध किया, साथ ही यह आशा भी व्यक्त की कि सर्वोच्च न्यायालय इस फतवा को देगा। आल इंडिया वूमेन कान्फ्रेंस ने आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड को चेतावनी दी कि वह फतवा को स्वीकार करे, नहीं तो वह इसकी स्वीकृति के लिए सरकार का दरवाजा खटखटाएगी। उज्मा नाहिद महिलाओं के अधिकारों के लिए लड़ने वाली मुसलमान हैं। यह बाद में आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल का बोर्ड से भी जुड़ गईं। इन्होंने बोर्ड से यह आग्रह किया कि ऐसे पुरुषों की संपत्ति जब्त कर उन्हें दंडित किया जाए, जो तीन तलाक कहते हैं। लेकिन आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड ने अपना रवैया नहीं बदला। यह कहा कि अहले हदीस का फतवा कानून बन जाय, तब भी उसे नहीं मानेगा। जेइ.एच. ने भी फतवा को अस्वीकार कर दिया।

1994 में हरियाण उच्च न्यायालय के न्यायाधीश एच.एन. तिलहरी ने संपत्ति मामले की एक सुनवाई के दौरान यह निर्णय दिया कि पत्नी को दिया गया तीन तलाक अवैध है, क्योंकि यह संविधान का उल्लंघन है। उन्होंने सिफारिश किया कि मुस्लिम पर्सनल ला को संविधान के अनुरूप कानूनी रूप दिया जाए।

इस निर्णय पर उलेमाओं का आक्रोश इस कदर था कि असगर अली इंजीनियर जैसे कानूनी रूप देने की माँग करने वाले अग्रणी लेखक भी इसके परिणामों को लेकर चिंतित हो उठे। उन्हें लगा कि फिर से शाहबानो प्रकरण एवं तत्पश्चात बाबरी मस्जिद विध्वंस जैसा माहौल बन सकता है। महिला कार्यकर्ताओं ने भी यह तर्क दिया कि इस समुदाय को अपने कानूनों में सुधार के लिए अकेला छोड़ दिया जाए।

इसके बावजूद इस निर्णय के स्वागत में स्पष्ट आवाजें उभरीं। उनमें से एक वूमेन्स इंडिया ट्रस्ट की संस्थापक कामिला तैयब जीन थीं। इसके साथ ही तलाकशुदा सामान्य

मुस्लिम महिलाएँ थीं, जिन्होंने यह महसूस किया कि निर्णय से अदालत के प्रति उनके विश्वास को बल मिला है। उन्होंने इस लेखक से कहा,'हम जानते हैं कि हमें अदालत से न्याय मिलेगा, मौलाना से नहीं।''

2001 में सर्वोच्च न्यायालय ने मुस्लिम वूमेन्स ऐक्ट 1986 की संवैधानिक वैधानिकता को कायम किया, जिसे पारित होने के बाद ही चुनौती दी गई थी। इसलिए कि इससे तलाकशुदा मुस्लिम महिलाएँ उन अधिकारों से वंचित होती थीं, जो दूसरे समुदाय की तलाकशुदा महिलाओं को प्राप्त थीं। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि तलाक के बाद तीन महीने की इद्दत अवधि के भीतर मुस्लिम तलाकशुदा महिलाओं को दिया जाना वाला 'समुचित और उचित प्रावधान एवं गुजाराभत्ता' का अर्थ यह है कि उन्हें इतनी राशि दी जाए, जिससे वे आजीवन अपना गुजारा कर सकें। आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड के सदस्यों में इस बात पर रोष भी था कि सर्वोच्च न्यायालय ने अपने ढंग से इस अधिनियम के आशय की व्याख्या की है, फिर भी वे शांत रहे। सबके बावजूद यह ऐसा कानून था, जिसका प्रारूप बोर्ड ने तैयार किया था। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि उस समय भाजपा नीत गठबंधन सरकार शासन में थी।

आज भाजपा पूर्ण बहुमत के साथ शासन में हैं। इसने अपने समान सिविल कोड के एजेंडे की कानूनी रूप देने का कोई प्रयास नहीं किया। वास्तविकता यह है कि अक्टूबर 2015 से कुछ दिनों पहले मुस्लिम पर्सनल ला के विरुद्ध दाखिल जनहित याचिका एवं सर्वोच्च न्यायालय के दूसरे पीठ में क्रिश्चियन ला के अन्तर्गत तलाकशुदा मामले की सुनवाई के दौरान यह कहा गया कि सरकार ने समान सिविल कोड का कार्यान्वयन क्यों नहीं किया।

केवल उलेमा ही नहीं, बल्कि नारीवादी भी इस बात से चिंतित हैं कि सर्वोच्च न्यायालय में दाखिल याचिका से समान सिविल कोड बन सकता है। भाजपा के शासन काल में इसका सीधा अर्थ सभी अल्पसंख्यक धार्मिक कानूनों को धता बताना ही हो सकता है। इन नारिवादियों ने कहा है कि सर्वोच्च न्यायालय ने पहले ही शमीम आरा बनाम उत्तर प्रदेश सरकार के मामले में 2003 में दिए गए निर्णय में तीन तलाक को अवैध करार दिया है। तलाकशुदा मुस्लिम महिलाएँ मुस्लिम वूमेन्स ऐक्ट एवं प्रोटेक्शन आफ वूमेन फ्राम डोमेस्टिक वायलेंस एक्ट 2005 जैसे कानूनों से भी न्याय पा सकती है। उन्होंने यह भी कहा कि बहुविवाह पर रोक के बावजूद हिंदू पुरुष पुनः विवाह कर रहे हैं और उनकी दूसरी पत्नी को पत्नी का दर्जा भी नहीं प्राप्त होता है, तो तीन तलाक अथवा बहुविवाह पर ही प्रतिबंध की बात क्यों? एक समुदाय के पर्सनल ला में वाह्य हस्तक्षेप को क्यों आमंत्रित किया जाए, ऐसे में जबकि वे खुद ही सांप्रदायिक सरकार की गिरफत में हैं?

इन परिस्थितियों में दो सवाल उठते हैं, पहला यह कि क्या निर्णय कानून के बराबर प्रभावी होता है, दूसरा क्या मुस्लिम औरतों को समुदाय का हिस्सा न माना जाए।

**नई पीढ़ी :**

शाहबानो के बाद मुस्लिम औरतों की नई पीढ़ी सामने आ गई है। यह पीढ़ी शिक्षित है, अपने मुस्लिम पहचान को लेकर आत्म विश्वास से भरी है, अपने धर्मग्रंथों का अध्ययन करती है अथवा धार्मिक नेताओं को चुनौती देती है। पहले मुस्लिम महिलाएँ पर्सनल ला के बारे में अपने विचार सिर्फ मीडिया के पूछने पर ही व्यक्य करती थीं। आज महिलाएँ अपने बीच बात-चीत करती हैं, संगठन बनाती है और मीडिया, अपने पुरुष नेताओं तथा सरकार के सामने अपनी बात रखती हैं। आज मुस्लिम औरतें सर्वोच्च न्यायालय में अपने पर्सनल ला में बदलाव के लिए जा रही हैं तो इसलिए कि धार्मिक नेताओं के साम़ने दशकों से किया जा रहा उनका प्रयास विफल हो गया है।

1992 में हुए बाबरी मस्जिद विध्वंस एवं उसके बाद के दंगे के बाद मुसलमानों ने यह अनुभव किया कि सुधार की अत्यंत आवश्यकता है, लेकिन यह सुधार किसी विदेशी सरकार के हस्तक्षेप के बिना आंतरिक हो। दो सबसे बड़ी बुराईयों तीन तलाक एवं बहुविवाह से बचने के लिए मानक निकाहनाम (मैरेज कांट्रेन्ट) बनाया गया, साथ ही शैक्षणिक अभियान भी चलाया गया। इस निकाहनामा में तलाक की कुरान में वर्णित विधि को बतलाया गया और यह भी कहा गया कि इसकी कार्रवाई मध्यस्थ द्वारा की जाएगी और इसका उल्लंघन करने वाले पति को दंडित भी किया जाएगा, इसमें बहुविवाह को भी जटिल बना दिया गया।

मुंबई में 1994 मुस्लिमों द्वारा बनाए गए इस निकाहनामा का अनुमोदन अलीगढ़की फिक एकेडमी द्वारा किया गया, इसमें इस्लामी विधिवेत्ता भी शामिल थे। लेकिन अखिल भारतीय मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड ने समर्थन देने से इंकार कर दिया। रूढ़िवादी महिलाओं के दबाव में उसने 2005 में अपना निकाहनाम तैयार किया। इसमें केवल कुरान में दी गई तलाक के विधि का पालन करने की सलाह दी गई। ऐसे लोगों के लिए कोई दंड निर्धारित नहीं किया गया, जो पालन न करें। बोर्ड ने इस निकाहनामा को समुदाय में प्रचारित करने की भी जरूरत नहीं समझी।

कई लोगों ने आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड के साथ संवाद करने का प्रयास किया। स्व. असगर अली

इंजीनियर ने मुस्लिम पर्सनल ला को कानूनी रूप देने के मसले पर विचार विमर्श करने के लिए एकाधिक बार आमंत्रित किया, लेकिन विचार-विमर्श के बदले हर बार धमकी भरे अंदाज में यही दोहराया गयाः हम अपने शरिया के किसी बदलाव की अनुमति नहीं देंगे।' विडंबना यह है कि यही वह आल इंडिया मुस्लिम बोर्ड था, जिसने मुस्लिम वूमेन एक्ट 1986 अधिनियमित कराकर शरिया में बदलाव किया था।

उर्दू मीडिया मुस्लिम औरतों की सहायता कर सकती है, लेकिन इसने बोर्ड को ही समर्थन देना जारी रखा, ठीक वैसे ही जैसे शाहबानो के समय में दिया था।

बहुत से मुसलमान बोर्ड को किसी अन्य गैर सरकारी संगठन की तरह ही मानते है, जिसे समुदाय के प्रतिनिधित्व का कोई अधिकार नहीं है। वास्तव में बोर्ड जिस तरह इस्लाम की छवि प्रस्तुत करता है, उससे अनेक लोगों को शर्म महसूस होती है। मौजूदा मामले में सर्वोच्च न्यायालय में बोर्ड द्वारा दाखिल किया गया हलफनामा उलझाने वाला कृत्य का ताजा उदाहरण है।

बोर्ड के सदस्यों एवं उनके समर्थकों के साथ मेरा संपर्क 30 वर्षों से अधिक का है। मेरा मानना है कि इस हलफनामा में जो कहा गया है, उसमें कुछ भी नया नहीं है। बोर्ड विवाह को पुरुषों की संस्था के रूप में देखता है। बहुविवाह की जरूरत पुरुषों की यौन इच्छा के कारण पड़ती है अथवा बच्चों की कमी के कारण (दोषी हर हालत में औरत ही है) लेकिन आधुनिक औरत दूसरी पत्नी नहीं चाहती है; इसलिए तीन तलाक की आवश्यकता है। पहली पत्नी को तीन तलाक द्वारा नगण्य मेहर और तीन महीने का गुजारा भत्ता देकर तलाक दिया जा सकता है। इसके बाद वह दूसरे पुरुषों पिता या भाई की आश्रित हो जाएगे। यदि उसे आजीवन गुजारा भत्ता दिया जाता है तो पथभ्रष्ट होने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। जब यह सवाल किया गया कि क्या उस औरत का कोई अधिकार नहीं है, जो घर को बनाने में पूरा जीवन खपा देती है? एक वरिष्ट बोर्ड सदस्य ने जवाब दिया, 'हम इस्लाम में सेवा प्रभार का भुगतान नहीं करते।'

ऐसे बोर्ड सदस्यों की निगाह में पति को उत्तदायी बनाने का कोई भी प्रयास विवाह में ही बाधक बनेगा। तब पुरूष विवाह से भागेंगे, जैसा कि पश्चिम में स्त्रीमुक्ति के कारण हो रहा है। अथवा पति उसी तरह अपनी पत्नी की हत्या करेंगे, जैसा हिंदू करते है। नारी द्वेष का यह स्तर हिला देने वाला है, लेकिन उन गरीब मुस्लिम औरतों के लिए नहीं, जिनका वास्ता मौलाना के नेतृत्व वाली जमात से पड़ता है। शाहबानो के समय में उन्होंने मुझसे सीधे कहा, 'हमें जमात में जाने के लिए न कहें, न्यायालय ही हमारी जमात है। जब बोर्ड ने शरिया विरोधी कहते हुए तिहाड़ी निर्णय की निंदा की, तब महिलाओं ने प्रतिकार ने कहा, 'हमें पता है कि ये उलेमा अपनी औरतों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं, पहले खुद उन्हें शरिया का पालन करने को कहें।'

विडंबना यह है कि इन निरक्षर महिलाओं की बात को उलेमा संज्ञान में लेने से भी इंकार करते हैं, लेकिन वे जानती हैं कि कुरान में विवाह के बारे में वैसा नहीं कहा गया है, जैसा उलेमा कहते हैं। वास्तव में आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड की तुलना में हमारा धर्मनिरपेक्ष न्यायालय कुरान को बेहतर ढंग से समझता है। अनेक मुस्लिम विद्वानों एवं कार्यकर्ताओं का कहना है कि भारत में मुस्लिम पर्सनल ला एवं आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड कुरान विरोधी है, क्योंकि वे तीन तलाक, हलाला एवं बिना शर्त बहुविवाह की अनुमति देते हैं। शायरा बानो और भारतीय मुस्लिम महिला संघ दोनों की याचिका में यह कहा गया है कि तीन तलाक न केवल असंवैधानिक है, बल्कि कुरान के आदेशों का उल्लंघन भी है।

किसी भी याचिका में समान नागरिक संहिता की बात नहीं है हम इस तथ्य की अनदेखी नहीं कर सकते कि राज्य को तीन तलाक और अथवा बहुविवाह को प्रतिबंधित करने वाला कानून लागू करना होगा। हर जगह अल्पसंख्यक धार्मिक मामले में राज्य के हस्तक्षेप से भयभीत रहते हैं।

बोर्ड के सदस्य तीन तलाक को कोई मुद्दा ही नहीं मानते। वे मानते हैं कि इसे मुस्लिम विरोधी मीडिया द्वारा खड़ा किया गया है। लेकिन कट्टरपंथी सैयद शहाबुद्दीन से लेकर महमूद उर रहमान समिति 2008 (महाराष्ट्र में मुसलमानों की स्थिति की जानकारी के लिए स्थापित) एवं आल इंडिया सुन्नी उन्नेमा काउंसिल तक, सभी ने तीन तलाक को खत्म करने के लिए कहा।

इसलिए अब मुस्लिम औरतों को कितना इंतजार करना चाहिए? यह लेख उन महिलाओं के प्रति निष्ठा स्वरूप लिखा गया है, जो मुस्लिम पर्सनल ला में बदलाव के लिए लड़ रही हैं। यह बदलाव तभी संभव है, जब मुस्लिम औरते सामूहिक रूप से इसकी मांग करेंगी। वह क्षण आ गया है, जब पूरे देश में मुस्लिम महिलाएँ समुदाय के रूप में इसकी मांग कर रही हैं, केवल स्वयं उत्पीड़ित के रूप में नहीं। 'मुस्लिम धार्मिक मामलों में वाह्य हस्तक्षेप' के लिए यदि कोई जिम्मेदार होगा तो वे मुस्लिम धार्मिक और राजनीतिक नेता होंगे, ये औरते नहीं, क्योंकि वे इन औरतों की बात सुनने से इंकार करते हैं। (लेखक तथा 'इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली' की अनुमति के साथ अनुदित)●

# नर-नारी समता और निजी कानून

**डॉ. स्वाति**

हमारे देश में प्रचलित विभिन्न धर्मों के निजी कानूनों में स्त्री को अशक्त बनाये रखने के लिए नाना प्रकार के प्रावधान किए गए हैं। देश के संविधान निर्माताओं की मंशा के अनुरूप समान नागरिक संहिता लागू करने की हर ईमानदार कोशिश को निजी कानूनों के स्त्री विरोधी स्वरूप को बदल कर सफल बनाया जा सकता है। समाजवादी जनपरिषद द्वारा 16 नवम्बर 1996 को दिल्ली में इस विषय पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गई थी। दल की तत्कालीन राष्ट्रीय सचिव तथा उक्त संगोष्ठी की संयोजक डॉ. स्वाति ने उक्त विषय पर यह परचा प्रस्तुत किया था। विषय के विभिन्न पहलुओं पर गहराई से विचार करने में यह लेख सहायक होगा। – अफ़लातून .

किसी भी देश के कानून उसके समाज के नियमों का सार या निचोड़ होते हैं। कानून परंपरा व सांस्कृतिक धारावाहिकता का व्यावहारिक रूप धर लेते हैं। इसीलिए आज बाल – विवाह व सती प्रथा के खिलाफ कानून है। यह जरूर गौरतलब है कि बाल विवाह ग्रामीण समाजों में अबाध रूप से होते रहे हैं , हो रहे हैं। दहेज विरोधी कानून होने के बावजूद धन , उपभोक्ता सामान , उपयोगी – अनुपयोगी वस्तुओं से वधु को लैस कर ससुराल भेजा जाता है ताकि उसे सहज स्वीकारा जाए। दहेज प्रथा को सामाजिक कलंक की जगह सामाजिक प्रतिष्ठा का मनदण्ड बना लिया गया है। राजाओं से उपजा यह विवाह का विधान हिंदू ही नहीं , मुसलमान व ईसाई समाज को प्रभावित कर रहा है। मुस्लिम समाज में भी दहेज के कारण बहुएँ जलाई तक जाने लगी हैं। कुप्रथाओं को जड़ जमाने में देर नहीं लगती।

अँग्रेजों ने अपने राज के समय विभिन्न धर्मो के कानूनों को न छेड़ना ही लाभप्रद समझा था ताकि इनको हटाने से उपजे विद्रोह को झेलना न पड़े। अपराधों के खिलाफ़ तो एक सर्वमान्य भारतीय दंड संहिता थी और आज भी है। परंतु व्यक्तिगत मामलों में विभिन्न धर्मों के भिन्न निजी कानून (पर्सनल कोड ) थे। आज भी भिन्न भिन्न निजी कनून हैं। जीवन के जिन क्षेत्रों को वे प्रभावित करते हैं , वे हैं :

1. संपत्ति का उत्तराधिकार , विरासत का हक़
2. विवाह तथा विवाह-विच्छेद (तलाक )
3. गोद लेने का हक़
4. पुत्र व पुत्री के अभिवावकत्व (गार्जियनशिप ) का अधिकार
5. परित्यक्ता व तलाकशुदा को गुजारा मिलने का हक़

कुछ हिंदूवादी लोगों व संस्थाओं के लगातार प्रचार से भारतीय समाज में यह धारणा आम है कि सिर्फ इस्लाम से जुड़े निजी कानून औरत के हक़ के खिलाफ़ हैं। इस धारणा को बल देने के लिए वे मुसलमानों में बहुपत्नी प्रथा (पुरुष को चार शादियाँ करने का हक़) व जबानी तलाक़ या तलाके बिद्दत को उदाहरणार्थ पेश करते हैं। यह प्रचार भी होता है कि स्वाधीनता के बाद सभी धर्मों ने अपने – अपने धार्मिक कानून छोड़ दिए, विशेषतः हिंदुओं ने ने, जो उदारवादी हैं परंतु मुसलमान अपने कठमुल्लापन के कारण अपने निजी कानून को नहीं बदलने देते।

**वस्तुस्थिति कुछ और है**

भारत के तीन प्रमुख धर्मों के निजी कानून हैं। इनके अलावा पारसी व पुर्तगाली सिविल कोड है। सिख , जैन , बौद्ध व आदिवासी अपने विवाह, विवाह-विच्छेद (छुटकारा) अपनी अपनी सामाजिक रीतियों के अनुसार करते हैं – मगर कानून इन्हें हिंदू ही माना गया है।

सर्वप्रथम हिंदू धार्मिक कानूनों के बारे में चर्चा करें। संपत्ति के उत्तराधिकार के नियम हिंदू कोड में पुरुष सत्तात्मक समाज की प्रथा से बँधे हुए हैं। कहने को तो हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 में पुत्र – पुत्रियों को समान अधिकार प्राप्त है परंतु जिस प्रवर समिति ने यह अधिनियम बनाया था उसने पुराने कानून 'मिताक्षर' को समाप्त करने की राय दी थी। परंतु तत्कालीन भारत सरकार भी शायद अँग्रेजों की तरह झंझटों से बचना चाहती थी इसलिए मिताक्षर सह-उत्तराधिकार प्रणाली को नहीं हटाया और अभी भी वह कानून में है। हिंदु संयुक्त परिवार प्रणाली की व्यवस्था है कि उत्तराधिकार का हक़ प्रत्यावर्तन द्वारा हो न कि महज संतान होने के हक़ से। और संयुक्त परिवार के सदस्य केवल पुरुष ही होंगे। इस प्रणाली में पुत्र जन्म से ही पिता की संपत्ति का वारिस बनता है व पुत्री पिता की मृत्यु के बाद ही। पुत्र-पुत्री में सही माने में बराबरी का हिस्सा नहीं

बनता।

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम (1956) की धारा 4(2) के मुताबिक जोत की जमीन का विभाजन रोकने के लिए अथवा जमीन की अधिकतम सीमा निर्धारण के लिए , पुत्री को जमीन की विरासत का अधिकार नहीं दिया गया। महिलाओं को काश्तकारी से वंचित किया गया। वे खेत में काम कर सकती हैं मगर उसकी मालिक नहीं बन सकती।

विवाहोपरान्त पति की व्यक्तिगत संपत्ति का आधा हिस्सा अधिकारस्वरूप माँगने पर तर्क दिया जाता है कि पैतृक व पति की , दोनों संपत्ति का हक़ औरत को क्यों मिले ? सच्चाई यह है कि विशेष विवाह अधिनियम (स्पेशल मैरेज एक्ट 1954) के अंतर्गत विवाह करने के बाद भी पुरुष उत्तराधिकार संबंधी नियमों में पुरानी धार्मिक प्रथाओंद्वारा बनी प्रणाली से उत्तराधिकार तय कर सकता है। उत्तराधिकार अधिनियम की धारा – 30 के अंतर्गत वह वसीयत द्वारा अपनी संपत्ति किसी के भी नाम लिख सकता है।

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा – 23 के अधीन यदि किसी स्त्री को एक मकान विरासत में मिला है और उसमें उसके पैतृक परिवार के सदस्य रह रहे हैं तो उसे उस मकान का बँटवारा करने का कोई अधिकार नहीं है। और कि वह स्वयं उसमें तब ही रह सकती है जब वह अविवाहित हो या तलाकशुदा। अगर कोई निस्संतान विधवा हिंदू स्त्री वसीयत किए बिना मरती है तो उसकी संपत्ति उसके पति के वारिसों को सौंप दी जाएगी। अपवाद स्वरूप अगर उसे कोई संपत्ति माता – पिता से मिली हो तो उपर्युक्त परिस्थिति में वह उसके पिता के वारिसों को मिलेगी। यह यदि पितृसत्तात्मक व्यवस्था का न्याय नहीं है तो और क्या है ? हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम (1956 ) के अलावा हिंदू विवाह अधिनियम (1955 ) , हिंदू दत्तक व भरण पोषण अधिनियम (1956) जैसे कानून महिलाओं के प्रति विषम दृष्टिकोण के ज्वलंत उदाहरणों से भरे हैं।

हिंदु विवाह अधिनियम (1955 ) सतही तौर पर 'समता' पर आधारित है। वह अदालत से तलाक मांगने का अधिकार स्त्री-पुरुष दोनों को देता है। 1976 के अधिनियम में तलाक के साधारण स्थापित कारकों के अलावा , क्रूरता (मानसिक/शारीरिक ), परित्याग करना व परस्पर रजामंदी भी तलाक के लिए पर्याप्त कारण माने गए हैं। भरण – पोषण का भत्ता माँगने का हक पति अथवा पत्नी दोनों को है। परंतु अदालती कार्रवाई के बाद ही यह गुजारा भत्ता मिलता है व उसे पति की आय का (1/5 से लेकर 1/3 ) हिस्सा निर्धारित किया जाता है। इतनी कम राशि ( वह भी न्यायालय व वकील के खर्च के बाद ) से परित्यक्ता या तलाकशुदा पत्नी व बच्चों का गुजारा चलता नहीं है व उसे अपने मायके वालों की शरण में जाना पड़ता है। बहुपत्नी प्रथा कहने को तो हिंदुओं में , जैन धर्मावलंबियों में समाप्त है , परंतु वास्तविकता विपरीत साक्ष्य प्रस्तुत करती है। कई संस्थाओं व स्वतंत्र अन्वेषण के दौरान पाया गया कि दो विवाह करने का रिवाज मुसलमानों से ज्यादा हिंदुओं में है और हिंदुओं से ज्यादा जैनों में। इनमें से कुछ तो पहली पत्नी का परित्याग करते हैं तो कुछ दोहरी गृहस्थियाँ चलाते हैं। अगर कोई स्त्री अदालत में वाद स्थापित करती है कि उसके पति ने दूसरी शादी की है व उसको न्याय व उसका अधिकार दिलाया जाये तो वादी को सिद्ध करना होता है कि उसके प्रतिवादी ने दूसरी शादी की है। ये पेचीदगी और भी बढ़ जाती है जब हिन्दू विवाह अधिनियम (1955) द्वारा विवाह को हिन्दू उच्च वर्ण की रीतियों (मसलन पाणिग्रहण, सप्तपदी) द्वारा संपादित किए जाने पर ही विवाह को मान्यता मिलती है। अन्य किसी इतर सामाजिक प्रथा को कानून मान्यता नहीं मिली है। तिरुपति मन्दिर में अपने समाज के सामने गांधर्व पद्धति से माला बदलने से विवाह मान्य नहीं होगा , इस प्रक्रिया से दूसरा विवाह करने वाला पुरुष ने 'विवाह' नहीं किया इसलिए दंडित नहीं होगा। उल्टे अगर माननीय न्यायाधीशों ने पहली पत्नी से उसके विवाह के सबूत माँगे और वह सप्तपदी इत्यादि सिद्ध नहीं कर पायी तो उसका विवाह न्यायालय समाप्त कर सकता है। ( देखें वनजाक्षम्मा बनाम गोपालकृष्णन,ए.आई.आर 1970,मैसूर 305) कई बार ऐसा हुआ है कि निचली अदालतें (सत्र व उच्च न्यायालय) में पति को सजा हुई है मगर उच्चतम न्यायालय ने अपने (कु)प्रसिद्ध भाऊराव लोखंडे बनाम महाराष्ट्र राज्य (1956) मामले का हवाला देते हुए सभी ऐसे मामलों में पति को बरी कर दिया है। एक तरह से उच्चतम न्यायालय ने पुरुषों को दूसरे/ तीसरे विवाह की अघोषित छूट दी हुई है। 'सरला मुदगल आदि बनाम भारत' नाम के चर्चित मामले में पुरुष ने इस्लाम धर्म कबूल किया था सिर्फ़ वैधानिक रूप से शादी करने के लिए। 1995 में उच्चतम न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों (श्री कुलदीप सिंह व श्री सहाय ) ने भारत सरकार को इस बिंदु पर अपनी संवैधानिक जिम्मेदारियों से चुकने के लिए आड़े हाथों लिया कि वह 'समान नागरिक संहिता' क्यों नहीं ला रही जिससे मुस्लिम पर्सनल लॉ में दी गई बहुपत्नी प्रथा की छूट समाप्त हो। इसके लिए मुस्लिम धर्मान्धता को भी कोसा गया। जो

व्यक्ति सिर्फ इसलिए इस्लाम धर्म कबूलते हैं ताकि दूसरी शादी की छूट हो ,वो तो गलत हैं हीं,मगर जो अन्य धर्मावलम्बी ऐसा ही कार्य करते हैं उनके बारे में न्याय की दृष्टि इतनी धुंधली क्यों है ?

इन समस्याओं को कम करने का एक तरीका विवाहों को कानूनी रूप से पंजीकृत करना अनिवार्य कर दिया जाये ताकि दूसरे विवाह के साक्ष्य जुटाना पहले पक्ष (पति या पत्नी) के लिए दुष्कर न हो व दूसरे विवाह पर कुछ रोक लग सके। अगर साक्ष्य अधिनियमों (एविडेन्स एक्ट) में परिवर्तन कर, दूसरी बार विवाहित न होने का सबूत प्रतिवादी (पति या पत्नी जो भी हो) को देना हो तो भी एक रोक लग सकती है। इस पर गहन विचार करना होगा।

अभिभावकत्व का अधिकार भी पिता को मिला है। पांच साल से कम का बच्चा ही माँ को मिलता है। स्त्री के संपत्ति के अधिकार अनुपालन तो समाज ने करने से इंकार कर दिया ठीक जैसे दहेज या बाल विवाह संबंधी कानूनों की भांति। सामाजिक स्वाभाविक अभिभावक माँ है इसे भी नकारा गया है।

**अंतिम तथ्य गैर बराबरी का**

विशेष विवाह अधिनियम के तहत कोई स्त्री किसी भी जाति के पुरुष से शादी कर सकती है मगर हमारा जातिवादी पुरुषसत्तात्मक समाज अक्सर ऐसे युवक-युवतियों को सजाए मौत देता है (कानून अपने हाथ में ले कर)। जाहिर है कि हिन्दू निजी अधिनियमों में कई खामियाँ हैं व इन्हें दूर करने के लिए पूरे समाज में , विधिवेत्ताओं में, न्यायाधीशों में व कानून बनाने वालों में समतामूलक दृष्टि की जरूरत है।

इस्लाम ने बेटियों को संपत्ति का अधिकार तब दिया , जब अरब में बच्चियाँ पैदा होते ही रेत में दबा दी जाती थीं। भले बेटियों का हिस्सा बेटों से (1/3) का हो- जन्म से है। पैगम्बर रसूल की नजर औरतों के हकूक पर निश्चित थी क्योंकि उन्हें औरतों के साथ किए गए व्यवहार के बारे में चिंता थी। उन दिनों अरब में लगातार कबिलाई युद्ध होते थे। बंदी की गयी दुश्मन कबीलों की औरतों , बच्चियों के साथ विजेता अक्सर बदसलूकी करते थे। अनिश्चित संख्या में विवाह करने की सामाजिक छूट थी क्योंकि औरतों की संख्या ज्यादा थी। औरतों के साथ बदसलूकी न हो व सामाजिक प्रतिष्ठा मिले इसलिए एक ही पुरुष को चार विवाह करने की छूट इस्लाम में दी गई। कुरान की आयतों में स्पष्ट निर्देश है कि अगर सभी पत्नियों से समान रूप ( आर्थिक ,सामाजिक,भावनात्मक) से व्यवहार करने में समर्थ पुरुष ही ,दूसरी/तीसरी/चौथी शादी कर सकता है। इसी तरह जबानी तलाक के बारे में स्पष्ट निर्देश है कि अगर पति काजी या समाज के जिम्मेदार व्यक्तियों के सामने पहली बार तलाक कहेगा।उसके बाद पति-पत्नी एक महीने की अवधि के लिए साथ-साथ रहेंगे-समझौते की संभावना तलाशने के लिए। नहीं कर पाए तो तो महीने अंत में पुनः काजी या जिम्मेदार व्यक्तियों के सामने 'तलाक' कहेगा पति। फिर एक महीना साथ रहना व जब संबंध निभाने में किन्हीं कारणों से अक्षम हो तो सार्वजनिक रूप से तीसरी बार 'तलाक' कहने से विवाह विच्छेद माना जाएगा।हिदायत है कि पूर्व पत्नी को विदा करते समय पूरे सम्मान व उसकी मेहर की रकम , निजी सामान इत्यादि देना होगा तथा इद्दत की मुद्दत का उसका व बच्चों का खर्च भी पति को देना होगा। ( तलाक ए रजई) इस प्रथा को एक ही बार में 'तीन तलाक' जबानी से बदल देना,कुरान के नियमों का गलत अर्थ लगाना है। इस कुप्रथा को निश्चित ही खत्म करना चाहिए। हजरत मुहम्मद साहब ने सिर्फ अंतिम विकल्प के रूप में तलाक को समझाया है।समाज जैसे-जैसे बदलता है,उसके नियम भी बदलते हैं।लड़कियों को पढ़ाना , रोजगार करना मान्य हुआ है , हो रहा है। 15 वीं सदी के अरब समाज से आज के मुस्लिम देशों के समाज में जो परिवर्तन आया है उससे कई देशों ने मसलन मिश्र, तुर्की , इरान ,ईराक ,मलेशिया आदि देशों ने बहुपत्नी प्रथा कानून खत्म की है अथवा उसमें सुधार किया है। पाकिस्तान में काजी के समक्ष पहली पत्नी सहमति देती है तब ही दूसरी शादी पति कर सकता है अन्यथा शादी गैर कानूनी होगी। इस्लाम में जो मानव -मात्र के प्रति विचार है(हजरत मुहम्मद साहब ने नस्ल का फर्क करने से मना किया 'सभी खुदा के बन्दे हैं') उसे अगर नर-नारी समता के लिए फैलाने का आग्रह मुस्लिम समाज अगर खुद करे तो बहुत बड़ा कदम होगा। उसे खोना तो विशेष नहीं होगा , उसी समाज के आधे हिस्से को न्याय मिलेगा साथ ही धर्मान्धता का आरोप भी खत्म हो जाएगा। यह पूरे भारतीय समाज व देश के लिए शुभ संकेत होगा और तब एक समतामूलक न्यायसंगत पारिवारिक कानून बन सकेगा।

ईसाई कानूनों की स्थिति दिलचस्प है। ईसाई विवाह अधिनियम (1872) व ईसाई तलाक अधिनियम (1869) अंग्रेजों द्वारा बनाये गये हैं। ये एक सदी से ज्यादा पुराने हो चुके हैं। इस सदी में हमारा पूरा समाज बदल चुका है , जो कि विशेष विवाह अधिनियम व तलाक अधिनियम (1974) में ( एक हद तक ) परिलक्षित है। जो निजी कानून ईसाई धर्मावलम्बियों के लिए है उसमें पुरुष को

तलाक देने के लिए पत्नी को व्याभिचारिणी सिद्ध करना काफी है , परंतु स्त्री को पति के व्यभिचार के साथ शारीरिक यातना , बलात्कार , परित्याग जैसे एक से अधिक आधार सिद्ध करने पड़ते हैं। जाहिर है कि इसके साक्ष्य जुटाना कठिन हैं। मतलब कि गैर बराबर आधार है एक ही स्थिति से निजात के लिए। गोद लेने का अधिकार भी नहीं है ईसाई माता या पिता को।

उत्तराधिकार अलग – अलग ईसाई पंथ में अलग है। केरल के प्रसिद्ध मेरी रॉय बनाम केरल राज्य मामले में वादी ने सीरियन ईसाईयों की प्रथा को चुनौती दी थी जिसमें पुत्रियों का हिस्सा अपने भाइयों के हिस्से से (1/4 ) आँका जाता है। अंततः उनकी जीत उच्चतम न्यायालय से हुई। समानता मूलक कानून बनाने का भी निर्देश इस निर्णय में था। 1994 में लगभग एक दशक की चर्चा व चिंतन के बाद विभिन्न ईसाई पंथ के पादरियों की परिषद , महिला संगठनों व कानूनविदों ने ईसाई धर्मावलम्बियों के लिए एक निजी कानून प्रस्तावित किया है जो वक्त की जरूरत पर आधारित है। उस प्रस्ताव भारत सरकार द्वारा सुनवाई होना बाकी है। ईसाई विवाह अधिनियम ( 1872 ) का चरित्र प्रशासनिक ज्यादा , सामाजिक कम है। इसमें विवाह की शर्तें स्पष्ट भी नहीं हैं , व हर पंथ के लिए समान भी नहीं। इसकी उपधारा ( 79 – 71 ) में बाल – विवाह की अनुमति भी है। ईसाई तलाक अधिनियम (1869 ) के विडंबनापूर्ण व विषमतामूलक रूप को हमने रेखांकित किया है। ज्यादातर धर्मगुरु भी अब परस्पर रजामंदी से तलाक ( विशेष विवाह अधिनियम 1974 की तरह ) सुविधा समाज को मिले , यह चाहते हैं। इससे समाज में विकृतियाँ कम होंगी ऐसा उन्हें लगता है। केरल के उच्च न्यायालय ने इस तलाक अधिनियम (1869 ) को असंवैधानिक बताया है। भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम ( 1925 ) ईसाईयों पर लागू होता है जिसमें ईसाई विधवा को पति की आधी संपत्ति ही मिल सकती है। अगर गलती से या अज्ञानतावश पत्नी ने शादी के पूर्व किए करार में संपत्ति में अपना हिस्सा छोड़ दिया हो तो बाद में यह गलती नहीं सुधारी जा सकती। 1994 के प्रस्तावित विधेयक में विवाह व तलाक नियमों को विशेष विवाह अधिनियम (1954 ) के अनुरूप बना दिया गया है। उत्तराधिकार में समान हिस्सा मिले यह प्रस्तावित है और गोद लेने का हक भी स्त्री – पुरुष दोनों को है।

इन मुख्य धर्मों के निजी कानूनों से अलग गोवा राज्य में पुर्तगाली सिविल कोड ( कोडिगो सिविल पोर्चगीज़ – 1870 ) हर धर्म के नागरिक पर लागू होता है। इसके कारण वहाँ हर विवाह , जन्म व मृत्यु को पंजीकृत करना अनिवार्य है। कुछ अपवाद छोड़कर वहाँ सभी इसी नियम का पालन करते हैं। परस्पर रजामंदी से तलाक पहले 1910 में मिला , फिर 1946 में कैथोलिक मत से प्रभावित पुर्तगाली राज्यसत्ता ने तलाक का प्रावधान हटाया , अब 1974 से फिर मिला है।शादी के पहले की संपत्ति पति या पत्नी की निजी व विवाहोपरान्त साझी होती है। तलाक के बाद इसका आधे में बँटवारा होता है। पति अगर किसी व्यक्ति या संस्था से ऋण लेकर नहीं चुकाता है तो उसके हिस्से की संपत्ति जब्त होती है , पत्नी की नहीं। शादी के पहले किए गये करार को सार्वजनिक माना जाता है व परिवर्तनीय होता है। दरअसल वहाँ के कर के नियमों से भी ’ अर्धांगिनी को आधा हक़’ मिला हुआ है। साझी संपत्ति रखने पर उस पर कर भी आधा लगता है। व्यक्तिगत व साझी संपत्ति का मूल्यांकन भी अलग – अलग होता है। हाँ , इससे भी छुटकारा पाने के लिए तलाक के वक्त कभी – कभी पुरुष अपनी संपत्ति को पहले ही बहन या भाई को लिख देते हैं ताकि पत्नी को हिस्सा न देना पड़े। शून्य का आधा भी तो शून्य ही होगा। उत्तराधिकार नियम है कि यदि पति – पत्नी में से एक की मृत्यु हो जाए तो दूसरे को आधा हिस्सा मिलेगा व आधा संतानों में बराबर हिस्सों में बँटेगा। निःसंतान दंपत्ति के मामले में यह संतान का हिस्सा मृतक के माता – पिता को मिलेगा। अगर वो भी जीवित नहीं हों तो भाई या बहन को मिलेगा। संतान को पूरी संपत्ति से वंचित करना असंभव है क्योंकि कोई व्यक्ति अपने हिस्से से आधे से ज्यादा संपत्ति की वसीयत नहीं लिख सकता। गौरतलब है कि जो मुसलमान पुरुष इस कोड के तहत शादी करते हैं वे बहुपत्नी प्रथा व तलाक – ए- बिद्दत से महरूम हो जाते हैं। पहले गोवा में दहेज विरोधी अधिनियम लागू नहीं था। संपत्ति व दहेज के लिए हत्याएँ बढ़ने से महिला संगठनों ने विधि मंत्रालय के माध्यम से अपनी कोशिशों से 1990 से लागू कराया है। इस पुर्तगाली कानून की भी खामियाँ हैं ही व इसके कड़े नियमों से बचने के उपाय भी लोगों ने खोज लिए हैं।

प्रश्न है कि क्या आज के पारिवारिक कानून समता आधारित हैं ? उत्तर होगा – नहीं। धार्मिक परंपराओ व रीतियों को न छोड़ते हुए भी कतिपय न्यूनतम परिवर्तन हर धर्म के कानून में हो सकते हैं। ये हैं :

1. पिता – माता की संपत्ति में अधिकार पुत्र-पुत्रियों का समान हो।

1 अ. वसीयत द्वारा इस नियम को नकारा न जा सके।

2. विवाहोपरान्त पति या पत्नी द्वारा अर्जित संपत्ति साझी मानी जाए। दोनों का हिस्सा आधा गिना जाए। गृहस्थ जीवन में पत्नी के श्रम की प्रतिष्ठा हो व परित्यक्ता बनने की परिस्थिति में , उसको व उसके बच्चों को जीवन यापन के लिए आधी संपत्ति अवश्य मिले। जहाँ पत्नी ज्यादा अर्जन करती हो , तलाक के समय पति को हिस्सा मिले।

2 अ. साझी संपत्ति की वसीयत किसी भी स्थिति में न हो। एक की मृत्यु होने पर ,संतान को मिले। निःसंतान हों तो माता – पिता को मिले।

3. विवाह अवश्य पंजीकृत हो। पंजीकरण न्यायालय के अलावा चर्च या काजी भी कर सकते हों।

4. गोद लेने का हक हर उपयुक्त स्त्री व पुरुष को चाहे वे विवाहित हो या अविवाहित मिले। (उपयुक्त होने के लिए सर्वमान्य उम्र, आय , सामाजिक स्थिति आदि है।)

5. एक से अधिक संतान गोद लेने की छूट हो।

6. तलाक के आधार पति या पत्नी के एक हों , इसका कानून एक रूप हो तो बेहतर है।

7. 15 साल की उम्र तक संतान माता के अभिभावकत्व में रहे। तदुपरान्त या 15 साल से ज्यादा वय की संतान स्वतः निर्णय ले।

(लेखिका समाजवादी जनपरिषद की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की सदस्य हैं।)

# खादी की बरबादी

**अफलातून**

'खादी का मतलब है देश के सभी लोगों की आर्थिक स्वतंत्रता और समानता का आरंभ। लेकिन कोई चीज कैसी है , यह तो उसको बरतने से जाना जा सकता है – पेड की पहचान उसके फल से होती है। इसलिए मैं जो कुछ कहता हूं उसमें कितनी सचाई है, यह हर एक स्त्री-पुरुष खुद अमल करके जान ले। साथ ही खादी में जो चीजें समाई हुई हैं,उन सबके साथ खादी को अपनाना चाहिए। खादी का एक मतलब यह है कि हम में से हर एक को संपूर्ण स्वदेशी की भावना बढ़ानी चाहिए और टिकानी चाहिए;यानी हमें इस बात का दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि हम अपने जीवन की सभी जरूरतों को हिन्दुस्तान की बनी चीजों से, और उनमें भी हमारे गांव में रहने वाली आम जनता की मेहनत और अक्ल से बनी चीजों के जरिए पूरा करेंगे। इस बारें में आज कल हमारा जो रवैया है, उसे बिल्कुल बदल डालने की यह बात है।मतलब यह कि आज हिन्दुस्तान के सात लाख गांवों को चूस कर और बरबाद कर के हिंदुस्तान और ग्रेट ब्रिटेन के जो दस-पांच शहर मालामाल हो रहे हैं, उनके बदले हमारे सात लाख गांव स्वावलंबी और स्वयंपूर्ण बने,और अपनी राजी खुशी से हिंदुस्तान के शहरों और बाहर की दुनिया के लिए इस तरह उपयोगी बनें कि दोनों पक्षों को फायदा पहुंचे। 'महात्मा गांधी ने खादी के अपने बुनियादी दर्शन को इन शब्दों में अपनी प्रसिद्ध पुस्तिका 'रचनात्मक कार्यक्रमः उसका रहस्य और स्थान' में प्रस्तुत किया है। अब हमें गांधीजी के 'पेड के फल की पहचान' करनी है। यह रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रह के लिए आवश्यक अहिंसक शक्ति के निर्माण हेतु बनाये गये थे।इन कार्यक्रमों का प्रतीक था-चरखा। लोहिया ने कई बरस बाद कहा कि हम रचनात्मक कार्यक्रम का प्रतीक 'फावडा' को भी चुन सकते हैं।

दावोस में शुरु हो रहे विश्व आर्थिक सम्मेलन के मौके पर इंग्लैण्ड की एक स्वयंसेवी संस्था ने एक रपट जारी की है जिसके मुताबिक भारत के सबसे दौलतमन्द एक फीसदी लोग देश की कुल दौलत के अट्ठावन फीसदी के मालिक हैं।यह आंकड़ा देश में भीषण आर्थिक विषमता का द्योतक है। यानी गांधीजी ने खादी के जिस कार्यक्रम को 1946 में 'आर्थिक समानता का आरंभ' माना था उसकी यात्रा उलटी दिशा में हुई है। इस देश में खेती के बाद सबसे बडा रोजगार हथकरघे से मिलता था ।उन हथकरघों तथा उन पर बैठने वाले बुनकरों की तथा खादी के उत्पादन के लिए आवश्यक 'हाथ-कते सूत' और उसे कांतने वाली कत्तिनों की हालत की पड़ताल जरूरी है। इसके साथ जुड़ा है ग्रामोद्योग तथा कुटीर व लघु उद्योग का संकट।

हाथ से कते सूत को हथकरघे पर बुनने से गांधी-विनोबा की खादी बनती है। दुनिया के प्रारंभिक बड़े अर्थशास्त्री मार्शल के छात्र और गांधीजी के सहकर्मी अर्थशास्त्री जे.सी. कुमारप्पा के अनुसार ,'दूध का वास्तविक

मूल्य उससे मिलने वाला पोषक तत्व है।' इस लिहाज से खादी का वास्तविक मूल्य वह है जो कत्तिनों ,बुनकरों और पहनने वालों को मिलता है।खादी के अर्थशास्त्र में गांधीजी के समय नियम था कि उसकी कीमत में से व्यवस्था पर 6.15 फीसदी से अधिक खर्च नहीं किया जाना चाहिए ताकि कत्तिनों और बुनकरों की आमदनी में कटौती न हो।कीमत निर्धारण की तिकड़मों के अलावा अब 'व्यवस्था खर्च' पर 25 फीसदी तक की इजाजत है। मुंबई के हुतात्मा चौक के निकट स्थित खादी भण्डार में 'जया भादुड़ी कलेक्शन' और दिल्ली के कनॉट प्लेस स्थित खादी भंडार में विख्यात डिजाइनरों के डिजाइन किए गए वस्त्र जिस कीमत पर बिकते हैं उसका कितना हिस्सा कत्तिनों और बुनकरों के पास पहुंचता है इसका अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अलावा खादी उत्पादन करने वाली संस्थाओं को फैशन-शो जैसे आयोजनों के लिए खादी कमीशन से अधिक आर्थिक मदद मिलती है किन्तु कताई केन्द्रों में अम्बर चरखों के रख-रखाव के लिए आर्थिक मदद नहीं मिलती। सूती-मिलों के बने सूत को हथकरघे पर बुने कपडे तथा पावरलूम पर बने कपड़ों के अलावा मोटर से चलने वाले अम्बर-चरखों पर काते गये सूत के कपडों को खादी भण्डारों से बेचने के लिए अनिवार्य प्रमाणपत्र खादी कमीशन द्वारा दिया जा रहा है। इन्हें 'लोक वस्त्र' कह कर खादी भंडार में बेचा जा रहा है।पूर्वोत्तर भारत के हथकरघों पर मिलों के धागे से बुने गये कपडों को भी खादी में सम्मिलित करने की नीति वर्तमान सरकार ने बनाई है। ताने में मिल का सूत और बाने में हाथ-कता सूत भी खादी भंडारों से अधिकृत रूप से बेचा जा रहा है।

केन्द्र सरकार की वर्तमान खादी-नीति की समीक्षा करते वक्त हमें यह तथ्य भी नजरअन्दाज नहीं करना चाहिए कि आठ घन्टे खादी का कपड़ा बुनने वाले को 100 रुपये तथा आठ घन्टे सूत कांतने वाली कत्तिन को मात्र 25 रुपए मजदूरी मिलती है। यह सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी से बहुत कम है। आजादी के पहले खादी और ग्रामोद्योग की गतिविधियां चलाने वाली संस्था अखिल भारत चरखा संघ की सालाना रपट से कुछ आंकड़ों पर ध्यान दीजिए, इन्हें गांधीजी ने उद्धृत किया है- 'सन 1940 में 13,451 से भी अधिक गांवों में फैले हुए 2,75,146 देहातियों को कताई, पिंजाई, बुनाई वगैरा मिला कर कुल 34,85,609 रुपये बतौर मजदूरी के मिले थे। इनमें 19,645 हरिजन और 57,378 मुसलमान थे ,और कातनेवालों में ज्यादा तादाद औरतों की थी।' जब आंकडे खादी की बाबत हों तब उसके मापदन्ड ऐसे होते हैं। चरखा संघ किस्म के रोजगार और आमदनी वाले आंकडे खादी कमीशन ने देने बन्द कर दिए हैं। खादी का मौलिक विचार त्याग देने के कारण अब ऐसे आंकड़ों की आवश्यकता नहीं रह गयी है।

विकेंद्रीकरण से कम पूंजी लगा कर अधिक लोगों को रोजगार मिलेगा, इस सिद्धांत को अमली रूप देने वाले कानून को दस अप्रैल को पूरी तरह लाचार बना दिया गया है। सिर्फ लघु उद्योगों द्वारा उत्पादन की नीति के तहत बीस वस्तुएं आरक्षित रह गई थीं। जो वस्तुएं लघु और कुटीर उद्योग में बनाई जा सकती हैं उन्हें बड़े उद्योगों द्वारा उत्पादित न करने देने की स्पष्ट नीति के तहत 1977 की जनता पार्टी की सरकार ने 807 वस्तुओं को लघु और कुटीर उद्योगों के लिए संरक्षित किया था। 1991 के बाद लगातार यह सूची संकुचित की जाती रही। 1 अप्रैल, 2000 को संरक्षित सूची से 643 वस्तुएं हटा दी गईं। 10 दस अप्रैल 2015 को उन बीस वस्तुओं को हटा कर संरक्षण के लिए बनाई गई सूची को पूरी तरह खत्म कर दिया गया। विकेन्द्रीकृत छोटे तथा कुटीर उद्योगों के उत्पादों के बजाए देश के कुछ खादी भण्डारों में एक ऐसी उभरती हुई दानवाकार कम्पनी के उत्पाद बेचे जा रहे हैं।इस कम्पनी के 97 फीसदी पूंजी के मालिक की मिल्कीयत फोर्ब्स पत्रिका ने ढाई अरब डॉलर आंकी है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का वास्तविक स्वदेशी विकल्प लघु एवं कुटीर उद्योग होने चाहिए कोई दानवाकार कम्पनी नहीं।

खादी ग्रामोद्योग आयोग के इस वर्ष के कैलेण्डर और डायरी पर गांधीजी के स्थान पर प्रधान मंत्री का चरखा जैसी आकृति के यंत्र के साथ चित्र प्रकाशित होने के बाद देश में जो बहस चली है उसे मौजूदा सरकार की खादी, हथकरघा और कुटीर उद्योग संबंधी नीति के आलोक में देखने का प्रयास इस लेख में किया गया है।प्रधान मंत्री ने स्वयं उस नीति की बाबत एक नारा दिया है-'आजादी से पहले थी खादी 'नेशन' के लिए,आजादी के बाद हो खादी 'फैशन' के लिए'। खादी संस्थाएं विनोबा के सुझाव के अनुरूप खादी कमीशन की जगह 'खादी मिशन' बनाएंगी तब वह 'अ-सरकारी खादी' ही असरकारी खादी होगी।

(अफलातून)
राष्ट्रीय संगठन सचिव , समाजवादी जनपरिषद।
816 रुद्र टावर्स, सुन्दरपुर, वाराणसी-221005.
aflatoon@gmail.com

संक्षिप्त सर्वे रिपोर्ट

# भाषा का सवाल सामाजिक न्याय का सवाल है

साथियों, पिछले लगभग 2 महीनों से प्रगतिशील और लोकतान्त्रिक छात्र समुदाय के हम कुछ छात्र मिलकर कैंपस के अकादमिक और सांस्कृतिक-सामाजिक माहौल में भाषाई दिक्कत को जानने समझने के लिए एक सर्वे कर रहें हैं। जैसा की हमने अपने पर्चे और मीटिंग्स में लगतार यह बात कही है कि हमारे अनुसार भाषा की दिक्कत या सवाल सामाजिक न्याय का सवाल है। इसीलिए इस सर्वे द्वारा हमारा लक्ष्य भाषा की समस्या को यूनिवर्सिटी के विभिन्न तबकों के इर्द-गिर्द जानने समझने का रहा है। इस तरह यह जानना बेहद ज़रूरी और अनिवार्य हो जाता है कि ळिऊ जैसी यूनिवर्सिटी जहाँ कि निहायती अंग्रेजी वर्चस्व है, वहां विभिन्न जातियों, वर्गों, जेंडर और ट्राइब से आने वाले छात्रों की क्या स्थिति है? वह इस यूनिवर्सिटी की अकादमिक और सामाजिक-सांस्कृतिक माहौल में भाषा से जुड़ी हुई किन दिक्कतों का सामना कर रहे हैं? और कैसे यह भाषा की समस्या अपने आप में एक सामाजिक न्याय का सवाल है? इस सर्वे द्वारा हमारी कोशिश इन्ही सवालों को रेखांकित करने की रही है।प्रगतिशील और लोकतान्त्रिक छात्र समुदाय, PDSC द्वारा संचालित यह सर्वे कश्मीरी गेट कैंपस के 410 छात्रों के बीच किया गया है, जिसमे BA, MA, M.Phil और पीएचडी सभी पाठ्यक्रमों के छात्रों पर सर्वे हुआ है। 410छात्रों के बीच हुए इस सर्वे का केटेगरी तथा जेंडर से निम्न संबंध हैः

| जाति | लिंग | | |
|---|---|---|---|
| | महिला | पुरुष | योग |
| सामान्य | 165 | 120 | 285 |
| अन्य पिछड़ा | 21 | 28 | 49 |
| अनु. जाति | 24 | 21 | 45 |
| अनु. जनजाति | 18 | 4 | 22 |
| योग | 228 | 173 | 401 |

यहाँ यह भी जान लेना ज़रूरी है, यहाँ उन ही केटेगरी वाले छात्रों की संख्या बताई गयी है, जिन्होंने जेंडर के सवाल का जवाब दिया था. यहाँ 9 सूचनाएं नहीं हैं, वह सिर्फ इसी वजह से है। केटेगरी में इसके अतिरिक्त तीन छात्र ऐसे हैं, जिनका दाखिला जनरल से हुआ है, मगर वह अपने राज्य में ओबीसी हैं। साथ ही साथ एक एऊ छात्र का दाखिला भी जनरल केटेगरी में हुआ है।

अब यहाँ नीचे की तालिका में हम स्कूल की फ़ीस के अनुसार छात्रों को विभाजित कर रहें हैं। 410 में से 394 छात्रों ने स्कूल फीस की सूचना उपलब्ध कराई हैः

| जाति | क्या पाठ समझने में कठिनाई होती है? | प्रतिमाह फीस ( रुपये में ) | | | | योग |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | 0-200 | 200-1000 | 1000-2000 | 2000 से अधिक | |
| सामान्य | हाँ | 9 | 12 | 19 | 49 | 89 |
| | नहीं | 7 | 17 | 14 | 67 | 105 |
| | कभी-कभी | 4 (20) | 13 (42) | 17 (50) | 54 (170) | 88 (282) |
| अन्य पिछड़ा | हाँ | 3 | 6 | 4 | 11 | 24 |
| | नहीं | 2 | 2 | 5 | 7 | 16 |
| | कभी-कभी | 2 (7) | 1 (9) | 2 (11) | 3 (21) | 8 (48) |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| अनु. जाति | हाँ | 10 | 8 | 2 | 5 | 25 |
| | नहीं | 2 | 1 | | 2 | 5 |
| | कभी-कभी | 6 (18) | 1 (10) | (2) | 4 (11) | 11 (41) |
| अनु. जनजाति | हाँ | 3 | 4 | 1 | 5 | 13 |
| | नहीं | 1 | 1 | 1 | 3 | 6 |
| | कभी-कभी | (4) | 1 (6) | 1 (3) | 2 (10) | 4 (23) |
| | | 49 (12.4 %) | 67 (17.0 %) | 66 (16.7) | 212 (53.8%) | 394 |

ब्रैकेट में पूरी संख्या का जानकारी है, जैसे जनरल केटेगरी में 0-200 रूपए पढने वाले 20 छात्र हैं।

अब यहाँ ध्यान से देखें तो पता चलता है कि जैसे-जैसे स्कूल फीस बढ़ रही है, वैसे वैसे छात्रों की संख्या भी बढ़ रही है। सबसे सस्ते-सरकारी स्कूल जिसकी फीस 0-200 रूपए है वहां मात्र 49 छात्र हैं तो वहीं सबसे ज्यादा 2000 रूपए से ज्यादा फीस वाले छात्रों की संख्या 212 है। अगर प्रतिशत के अनुसार देखें तो यूनिवर्सिटी में 0-200 रुपए वाले स्कूल में पढ़ने वाले छात्र मात्र 12.4 % हैं, वहीं मध्यम फीस वाले स्कूल, जिनकी फीस रुपए 200-1000 या रुपए 1000-2000 है, वह 17 तथा 16.7 प्रतिशत हैं। सबसे अधिक स्पष्ट तथ्य यह है कि 2000 रुपए से महंगे वाले स्कूल से आने वाले छात्रों की संख्या यूनिवर्सिटी में आधे से भी अधिक है। (53.8 %). इसके अतरिक्त आप केटेगरी के साथ भी फीस को जोड़ कर देखेंगे तो भी कई तथ्य स्पष्ट होंगे. मसलन जनरल केटेगरी में एक दम सस्ते (0-200 रुपए) स्कूल से आने वालों की संख्या पूरी जनरल संख्या का 7 इ है। वहीँ, एक दम महंगे स्कूल (2000 रुपए से ज्यादा) से आने वालों का यहीं आंकड़ा 60.2 % है। ओबीसी में यहीं आंकड़ा 14.5 इ तथा 43.7 % है। अनुसूचित जाति की केटेगरी से दाखिल हुए छात्रों में यह आंकड़ा थोड़ा अलग है, यहाँ सबसे सस्ते स्कूल से आये हुए छात्र 43.9 % हैं वहीं सबसे महंगी फीस के स्कूल से आये हुए छात्र तक़रीबन 27 फीसद हैं (26.8 %)। अनुसूचित जनजाति की केटेगरी से दाखिला लेने वाले छात्रों में यह आंकड़ा 17.3% (सबसे सस्ते स्कूल) तथा 43.4 (सबसे महंगे स्कूल) है। बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के नाम पर चलने वाली इस यूनिवर्सिटी का यह तथ्य यूनिवर्सिटी की उस दृष्टि पर प्रश्नचिन्ह लगाता है कि वह, यूनिवर्सिटी में हाशिए के तबकों से आने वालों को जगह मुहैया कराएगी. क्या यह तथ्य इस बात को सीधा ही प्रकट नहीं करता की यह यूनिवर्सिटी कही न कहीं अभिजात माने इलीट तबके के लिए कार्यरत है? क्या इस तरह यूनिवर्सिटी का उच्च-जातीय तथा उच्च-वर्गीय चरित्र सामने नहीं आता?

बहरहाल इस से आगे बढ़ते हुए हम भाषाई समस्याओं को सामने लाने की कोशिश करेंगे। हमने छात्रों से एक सवाल यह किया था कि क्या उन्हें दी गयी रीडिंग्स को समझने में परेशानी होती है? इस सवाल के जवाब में विकल्प दिए गए थे; हां, ना और कभी-कभार. इसका लक्ष्य ज़ाहिरी तौर पर केवल यह समझना था कि कितने छात्रों को एक दम परेशानी होती है, कितनों को नहीं और कितनों को कभी-कभार. ऊपर ही की तालिका में इसका भी वर्णन दिया गया है। अगर सुविधा के लिए हम हाँ और कभी-कभार के जवाबों के संख्या को जोड़ दें तो निम्न आंकड़ा आयेगा, जनरल केटेगरी के 177 छात्रों को या तो बिलकुल दिक्कत होती है, या कभी-कभार. (पूरे वर्णन और स्कूल फीस से इसके संबंध को समझने के लिए तालिका देखें)। ओबीसी तबके में यही संख्या 32 तथा अनुसूचित जाति तबके में यही संख्या 36 है। अनुसूचित जनजाति में यही संख्या 17 है। अगर इस सवाल को ध्यान से देखें तो यह तो स्पष्ट होता है कि रीडिंग जोकि क्लास रूम की बुनियादी ज़रूरत है, उसे समझने में कई छात्रों को या तो दिक्कत होती है, या कभी-कभार होती है, लेकिन यह स्पष्ट नहीं है की यह किस-किस तरह कि दिक्कत है। सर्वे के तीसरे हिस्से के पांचवे सवाल में हमने सब्जेक्टिव तौर पर छात्रों से इसके कारण को समझने के लिए सवाल किया था. सर्वे के विश्लेषण के दौरान हमने उन जानकारियों को 5 विकल्पों में परिवर्तित किया है। यह 5 विकल्प एक तरह से भाषाई दिक्कत के 5 स्तर भी हैं। इसमें पहला विकल्प भाषा संबंधी है, जिसमे शब्दकोश की कमी, व्याकरण की परेशानी तथा कथन न बना सकने की दिक्कतें हैं। दूसरा विकल्प है,

अकादमिक भाषा की दिक्कत, अकादमिक या बौद्धिक जुमलेबाज़ी की दिक्कत इत्यादि. तीसरा विकल्प है, विचारों की पेचीदगी। चौथा विकल्प आत्मविश्वास की कमी है, जिसमे सवाल पूछने में असहजता, परेशानी इत्यादि हैं। तथा पांचवा और आखिरी विकल्प अन्य तथ्यों की और ध्यान आकृष्ट करता है, मसलन, रीडिंग्स लम्बी होतीं हैं, रीडिंग्स के साथ रफ़्तार नहीं बना पाते, प्रध्यापक के शब्द वर्चस्वादी हैं, रीडिंग्स अनुभवों से जुड़ीं हुईं नहीं हैं, बैकग्राउंड एकाएक बदलने से हुई दिक्कत तथा आलसपन इत्यादि. अब इन पांच विकल्पों को समझने के बाद यदि आप नीचे की तालिका का अध्ययन करें तो कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। तालिका नीचे दी जा रही हैः-

| स्कूल | पढ़ाई समझने में कठिनाई का कारण (प्रतिशत में) | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| | भाषा | शैक्षणिक शब्दावली | विचारों की जटिलता | आत्मविश्वास का कमी | अन्य कारण |
| सरकारी | 76 | 7 | 5.5 | | 11.5 |
| प्राइवेट | 26.6 | 29.7 | 19 | 2.6 | 22.1 |
| अर्द्ध सरकारी | 27.8 | 22.2 | 22.2 | | 27.8 |
| अन्य | 67 | 33 | | | |

इन तालिकाओं से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ सरकारी स्कूल से पढ़ के आने वाले छात्रों का एक बहुत ही बड़ा हिस्सा अभी भाषा संबंधी पहले ही स्तर पर अटका हुआ है, माने शब्दकोश की कमी की दिक्कत तथा कथन ना बना सकने की स्थिति इत्यादि, तो वहीं निजी स्कूल में यह पाँचों स्तरों में लगभग-लगभग बंटा हुआ है. सेमी-प्राइवेट स्कूल की भी यही स्थिति है, और अन्य स्कूल, जिसमे की गुरुकल जैसे स्कूल हैं, वहां भी स्थिति काफी हद् तक सरकारी स्कूल जैसी है. मगर सरकारी स्कूल के छात्रों से संबंधित यह आंकड़ा एक दम चिंता में डालता है, जहाँ 54 छात्रों में से 41 छात्रों को बुनियादी अंग्रेजी की दिक्कत है, जोकि 76% है. हम हर साल सुनते हैं की अकादमिक वर्ष के शुरू होने के चन्द महीने बाद ही कई छात्र ड्राप-आउट (यूनिवर्सिटी छोड़ देना) हो जाते हैं. यूनिवर्सिटी में ड्राप-आउट दर हमेशा से काफी चिंताजनक रही है. यह शोध किये जाने का विषय है कि इन ड्राप-आउट हो रहे छात्रों का जातिगत और आर्थिक परिवेश तथा आधार क्या है? इसमें गरीब, दलित, बहुजन, आदिवासी तथा महिलाओं की स्थिति क्या है? फ़िलहाल यह सर्वे की संक्षिप्त रिपोर्ट है, समय और संसाधनों की कमी के कारण इसका विस्तृत अध्ययन अभी पेश करना प्रगतिशील और लोकतान्त्रिक छात्र समुदाय के लिए संभव नहीं था, लेकिन जनवरी में एक विस्तृत रिपोर्ट के साथ और भी पहलुओं पर गौर किया जाएगा। बहरहाल ऊपर की तालिका से एक बार फिर स्पष्ट होता है कि यह यूनिवर्सिटी बड़े प्राइवेट स्कूल और उच्चवर्गीय-उच्चजातीय इलीट छात्रों के लिए ही बेहतर जगह बन पाती है, और गरीब, दलित, बहुजन, आदिवासी समाज के छात्रों का एक बहुत ही बड़ा हिस्सा बुनियादी अंग्रेजी की दिक्कत के कारण कमतर महसूस करता है. अगली तालिका में हमारी कोशिश केटेगरी और फीस के साथ रीडिंग समझ सकने की दिक्कत के विभिन्न स्तरों के साथ संबंध दिखाने की है।

अब आप यहाँ देखेंगे तो जनरल केटेगरी के वह छात्र जो 0-200 रुपए के सबसे सस्ते स्कूल में पढ़े हैं उनमे से 12 में से 8 छात्रों को बुनियादी अंग्रेजी की दिक्कत है, जोकि 64 % है। वहीं 200-1000 रुपए के स्कूल में यह 30 फीसदी है तो वही 1000-2000 रुपए के स्कूल में बुनियादी अंग्रेजी की दिक्कत मात्र 9 फीसदी को है। सबसे महंगे स्कूल के छात्र में यह अपेक्षाकृत थोड़ा अधिक 27.0% है। लेकिन जो सबसे स्पष्ट बात यहाँ प्रकट होती है वह यही है की सस्ते स्कूल के छात्रों में सबसे बड़ी समस्या बुनियादी अंग्रेजी की ही है। औसत तौर पर देखें तो जनरल केटेगरी के 161 में से 43 छात्रों को बुनियादी अंग्रेज़ी की समस्या है, जोकि 26.7 फीसद है। ओबीसी छात्रों में एक बेहद ही सीधा आंकड़ा सामने आया है, जहाँ 0-2000 रुपए तक के सभी छात्रों को बुनियादी अंग्रेज़ी की दिक्कत है। यह आकंड़ा यहाँ 100 फीसद तक पहुँचता है। तो वहीं सबसे महंगे स्कूल के ओबीसी छात्रों में भी बुनियादी अंग्रेज़ी की दिक्कत 28.5 प्रतिशत है। यहाँ यह बात इस बात का संकेत करती है की

| प्रतिमाह फीस (रु0 में) | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| | | 0-200 | 200-1000 | 1000-2000 | 2000 से अधिक |
| सामान्य श्रेणी | भाषा की समस्या | 8 | 6 | 3 | 26 |
| | शैक्षणिक शब्दावली | 3 | 4 | 9 | 33 |
| | विचारों की जटिलता | | 5 | 10 | 14 |
| | आत्मविश्वास की कमी | | | | 2 |
| | अन्य कारण | 1 | 5 | 11 | 21 |
| | योग | 12 | 20 | 33 | 96 |
| | | | | | योग सा. (161) |
| अन्य पिछड़ा श्रेणी | भाषा की समस्या | 5 | 5 | 6 | 2 |
| | शैक्षणिक शब्दावली | | | | 3 |
| | विचारों की जटिलता | | | | |
| | आत्मविश्वास की कमी | | | | 1 |
| | अन्य कारण | | | | 1 |
| | योग | 5 | 5 | 6 | 7 |
| | | | | | योग पिछड़ा (23) |
| अनु. जाति | भाषा की समस्या | 14 | 4 | 1 | 3 |
| | शैक्षणिक शब्दावली | 1 | 1 | | 2 |
| | विचारों की जटिलता | | 2 | 1 | 1 |
| | आत्मविश्वास की कमी | | | | |
| | अन्य कारण | 2 | | | 2 |
| | योग | 17 | 7 | 2 | 7 |
| | | | | | योग अनु.जाति (33) |
| अनु. जनजाति | भाषा की समस्या | 1 | 4 | | 2 |
| | शैक्षणिक शब्दावली | | 1 | 1 | |
| | विचारों की जटिलता | 1 | | 1 | 3 |
| | आत्मविश्वास की कमी | | | | 1 |
| | अन्य कारण | 1 | | | 1 |
| | योग | 3 | 5 | 2 | 7 |
| | | | | | योग अनु.जनजाति (17) |

मध्यमवर्गीय बहुजन (ओबीसी) समाज के छात्रों में बुनियादी अंग्रेजी की दिक्कत एक बहुत ही बड़ी समस्या है। औसत तौर पर देखें तो 78.2 फीसदी ओबीसी छात्रों को बुनियादी अंग्रेज़ी की दिक्कत है। अब यदि अनुसूचित जाति (SC) के आंकड़ों को देखें तो सबसे सस्ते स्कूल में पढ़े हुए SC छात्रों के 82.3 % छात्रों को बुनियादी अंग्रेजी की दिक्कत है। वहीं 200-1000 और 1000-2000 रुपए फीस के स्कूल से पढ़ कर आये एण में यही बुनियादी अंग्रेजी कि समस्या 57.1 % तथा 50 % है। सबसे महंगे स्कूल के छात्रों में यही आंकड़ा 42.8 फीसद हो जाता है। तो यहाँ भी हम स्पष्ट तौर पर देख रहे हैं कि यहाँ भी जैसे-जैसे फीस बढ़ रहीं हैं वैसे-वैसे बुनियादी

अंग्रेज़ी की समस्या कम होती जा रही है और बाकि अन्य स्तर की दिक्कतें भी सामने आ रही हैं। औसत तौर पर देखते हैं तो 66.6 इ दलितों (एण) को बुनियादी अंग्रेजी की समस्या है। अनुसूचित जनजाति केटेगरी के वह छात्र जो सबसे सस्ते स्कूल से आये हैं, उनमे यह 33 फीसद और 200-1000 रुपए फीस वाले स्कूल से आये छात्रों में यहीं आंकड़ा 80 फ़ीसद है, जबकि सबसे महंगे स्कूल से ए छात्रों में यही आंकड़ा 28.5 फीसद है। औसत तौर पर देखें तो 41.1 फीसद आदिवासी (ST) समाज के छात्रों को बुनियादी अंग्रेज़ी की समस्या है। अगर व्यापक और संपूर्ण रूप में देखें तो 234 में से 90 छात्रों को बुनियादी अंग्रेजी की समस्या है जो की 38.4 फीसद है। इस तरह इस पूरी ही तालिका से कहीं न कहीं यह भी स्पष्ट होता है की स्कूल की फीस के अनुसार बुनियादी भाषाई दिक्कतों अथवा बुनियादी अंग्रेज़ी की समस्याएं गहरे से जुड़ीं हुईं हैं, और यूनिवर्सिटी परिसर की यह बहुत बड़ी दिक्कत है, जिस पर अब तक यूनिवर्सिटी ने ध्यान नहीं दिया है। हमने पीछे देखा था की सरकारी स्कूल के 76 फीसदी छात्रों को बुनियादी अंग्रेजी की दिक्कत है अब इसे फीस के साथ जोड़ें तो हम देखतें हैं की सबसे सस्ते स्कूल के 37 में से 28 छात्रों को बुनियादी अंग्रेजी की दिक्कत है जोकि 75.6 इ है। इसके सामने यदि सबसे महंगे स्कूल के छात्रों के आंकडें को रखेंगे तो तस्वीर और स्पष्ट होगी, जहाँ कुल 117 में से 33 छात्रों को बुनियादी अंग्रेजी की दिक्कत है। जोकि 28.2 % है। इस तरह यह बात स्पष्ट है की आर्थिक स्थिति का भी बुनियादी भाषाई दिक्कत से गहरा संबंध है।

इससे आगे हम महिलाओं की समस्याओं को समझने के लिए अलग से महिलाओं की संख्या को बुनियादी अंग्रेजी की दिक्कत से जोड़ कर देख रहे हैं, तालिका 7 एवं तालिका 8 इस लिहाज़ से बेहद ज़रूरी हैं। तालिकाएँ नीचे दी गयीं हैः-

| लिंग | पढ़ाई समझने में कठिनाई का कारण | जाति की श्रेणी | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| | | सामान्य | अन्य पिछड़ा | अनु. जाति | अनु. जनजाति |
| महिला | भाषा की समस्या | 20 | 10 | 10 | 6 |
| | शैक्षणिक शब्दावली | 30 | 1 | 2 | 2 |
| | विचारों की जटिलता | 18 | | 3 | 3 |
| | आत्मविश्वास की कमी | 2 | | | |
| | अन्य कारण | 22 | 1 | 2 | 2 |
| पुरुष | भाषा की समस्या | 22 | 8 | 12 | 1 |
| | शैक्षणिक शब्दावली | 18 | 2 | 2 | |
| | विचारों की जटिलता | 11 | | 1 | 1 |
| | आत्मविश्वास की कमी | | 1 | | 1 |
| | अन्य कारण | 17 | | 2 | |

तालिका से यह बात भी स्पष्ट हो रही है की जहाँ जनरल केटेगरी के महिला और पुरुष छात्र-छात्राओं में रीडिंग्स को समझ सकने की समस्या विभिन्न स्तरों पर विकल्प 1 से विकल्प 5 तक फैलें हैं, तो वहीँ दलित-बहुजन-आदिवासी में यह काफी हद्‌ तक बुनियादी अंग्रेजी की समस्या तक अटका हुआ है। इससे यह बात भी स्पष्ट

| लिंग | प्रतिमाह शुल्क | | पढ़ाई समझने में कठिनाई का कारण | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | भाषा की समस्या | शैक्षणिक शब्दावली | विचारों की जटिलता | आत्म विश्वास में कमी | अन्य कारण |
| महिला | 0-200 | 14 | | 1 | | 2 |
| | 200-1000 | 8 | 3 | 4 | | 2 |
| | 1000-2000 | 9 | 7 | 5 | | 9 |
| | 2000 से अधिक | 15 | 25 | 14 | 2 | 14 |
| | | 46 | 35 | 24 | 2 | 27 |
| पुरुष | 0-200 | 14 | 4 | | | 2 |
| | 200-1000 | 11 | 3 | 3 | | 3 |
| | 1000-2000 | 1 | 3 | 7 | | 2 |
| | 2000 से अधिक | 17 | 12 | 3 | 2 | 10 |
| | | 43 | 22 | 13 | 2 | 17 |

होती है कि यूनिवर्सिटी परिसर का अकादमिक समाज उच्च-वर्गीय तथा उच्च-जातीय वर्चस्व में हैं, क्योंकि इस आकादमिक समाज में उच्चवर्गीय-उच्चजातीय छात्रों-प्रध्यापकों का बुनियादी अंग्रेजी पर पूरा अधिकार है, गरीब, दलित, बहुजन, आदिवासी समाज का एक बड़ा तबका जहाँ एक और अंग्रेजी की कड़ी अनिवार्यता और वर्चस्व से पीड़ित हैं, तो दूसरी और उनका बुनियादी अंग्रेजी में भी गहरी समस्याएं हैं।

तालिका में एक बार यह बात पुनः स्पष्ट हो रही है की सबसे सस्ते स्कूल के छात्रों में बुनियादी अंग्रेजी की समस्या सबसे बड़ी समस्या है। अगर महिलाओं की तालिका में देखें तो सबसे सस्ते स्कूल में 17 में से 14 महिला छात्राओं को बुनियादी अंग्रेज़ी की दिक्कत है, जोकि 82.3इ है। 0-200 रुपए के जनरल आंकडें से भी अधिक है जोकि 75.6 इ था. इस तरह यह और स्पष्ट होता है की आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्गों में महिलाओं की स्थिति और भी कमज़ोर है। साथ ही साथ इसका यदि पुरुष छात्रों के आंकड़े से तुलना करें तो और भी बेहतर तस्वीर सामने आएगी. सबसे सस्ते स्कूल से आये हुए पुरुष छात्र में 20 में से 14 को बुनियादी अंग्रेजी की दिक्कत है जोकि 70 % है। यह आंकड़ा महिलाओं के 82.3% के आंकडें से कम है और हमारी बात को फिर साबित कर रहा है कि महिलाओं की स्थिति आर्थिक पिछड़ेपन में और भी पिछड़ी हुई है। अंत में सबसे महंगे स्कूल के छात्रों के आंकड़ों को देखें तो 70 में से 15 महिला छात्रों को ही बुनियादी अंग्रेजीं कि दिक्कत है, जोकि 21.4 % मात्र है, जबकि इसी में अकादमिक भाषा संबंधी दिक्कत 25 महिला छात्राओं को है, जोकि 35.7% है। इस तरह पुनः यह बात स्थापित होती है की आर्थिक स्थिति के बेहतर होते हुए रीडिंग्स को समझने के दिक्कत का स्तर बढ़ता जाता है।

इस तरह इस सर्वे द्वारा हमारा लक्ष्य यूनिवर्सिटी के छात्र-छात्राओं, प्रध्यापकों, यूनिवर्सिटी प्रशासन आदि को यह बात याद दिलाना है कि भाषा का मुद्दा अतिसंवेदनशील, व्यापक और जटिल है, जिसमे बुनियादी अंग्रेजी की समस्या के कारण गरीब, दलित, बहुजन, आदिवासी और महिलाओं को बेहद ही नुक्सान होता है और वह परिसर में कमतर और कमज़ोर महसूस करते हैं। इस तरह से स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भाषा का सवाल सामाजिक न्याय का सवाल है।

पिछले दो महीने में हुई निरंतर मीटिंग्स, पब्लिक मीटिंग्स, बातचीत और सर्वे से हम कुछ निष्कर्षो तक पहुंचें हैं, जिसके द्वारा हमारा मानना है की भाषाई दिक्कत को कुछ हद्द तक सुलझाया जा सकता है। हम उन निष्कर्षों को नीचे दे रहे हैं, जोकि यूनिवर्सिटी प्रशासन से हमारी मांगे भी हैं।

- हम मानते है की अंग्रेजी हमारे ज्ञान को पाने के लिए बेहद ही ज़रूरी भाषा है इसलिए बुनियादी अंग्रेजी को यूनिवर्सिटी छात्र-छात्राओं को सीखाने-समझाने के लिए तत्काल ही लैंग्वेज-सेल का पुनर्निर्माण किया जाए.
- पाया गया है कि ईं और रिसर्च के छात्र-छात्राओं के

लिए अंग्रेजी सीखाने का कोई प्रबंध नहीं हैं, इसलिए हम मांग करते हैं की" से पीएचडी तक सभी छात्र-छात्राओं की मदद के लिए लैंग्वेज-सेल का पुनर्निर्माण किया जाए.

- हमारा मानना है की यूनिवर्सिटी, शिक्षकों को इस काम में लगा कर उन पर और कार्य-दबाव बढ़ा देती है, जिससे लैंग्वेज-सेल के काम पर भी असर पड़ता है। साथ ही साथ स्टूडेंट वालंटियर पर भी असाइनमेंट और परीक्षाओं का दबाव रहता है। इसीलिए हम मांग करते हैं कि लैंग्वेज-सेल के लिए या तो ताज़ा नियुक्तियां हो या फिर कुछ शिक्षकों को यदि यह काम दिया जाए तो यह उनका प्राथमिक काम हो, न की रस्म-अदायगी की जाए.
- हमारा मानना है कि रीडिंग्स को समझ सकने की दिक्कत में छात्र अलग-अलग स्तर पर संघर्ष कर रहें हैं, इसीलिए हमारी मांग है की दो तरह के अंग्रेजी कोर्स चलाये जाए, जिसमे पहला बुनियादी अंग्रेजी से संबंधित हो और दूसरा अकादमिक अंग्रेजी से संबंधित.
- बी.ए. के प्रथम वर्ष में हिंदी अनिवार्य भाषा के रूप में पढाई जाए हम इस बात का विरोध करते हैं, क्योंकि सर्वे के दौरान हमें पता चला कि कई दक्षिण और उत्तर-पुर्वीय छात्रों को इस अनिवार्यता द्वारा परेशानी का सामना करना पड़ रहा है। हमारी मांग है की इस अनिवार्यता को तत्काल ही निरस्त किया जाए.
- हम मांग करते हैं कि जब तक की किसी छात्र की बुनियादी अंग्रेजी ठीक-ठाक नहीं हो जाती और वह अंग्रेज़ी में परीक्षा, असाइनमेंट और प्रेजेंटेशन देने योग्य नहीं हो पाता, तब तक उसे हिंदी में अपनी परीक्षा, असाइनमेंट और प्रेजेंटेशन करने दिया जाए. यूनिवर्सिटी उसके मुल्यांकन के लिए प्रबंध कराए.
- हम मांग करते हैं की यूनिवर्सिटी में होने वाले व्याख्यान, सेमिनार इत्यादि में से कुछ दिल्ली की राज्य-स्तर की भाषाओँ में कराएँ जाएँ, जो अब तक नहीं हो रहे.
- हमारी एक दीर्घकालिक मांग यह है कि भारत की अन्य भाषाओँ (खास कर की दिल्ली सरकार की भाषाओं ) में ज्ञान को प्रोत्साहन देने के लिए यूनिवर्सिटी तुरंत ही एक अनुवाद परियोजना पर काम शुरू करे और अगले 1-2 साल में यह सुनिश्चित हो पाए की हर पाठ्यक्रम की कम से कम परिचयात्मक रीडिंग्स का इन भाषाओँ में अनुवाद हो. यूनिवर्सिटी में वैसे ही कई रिसर्च प्रोजेक्ट चल रहे हैं, एक रिसर्च प्रोजेक्ट अनुवाद पर क्यों नहीं? तो हम मांग करते हैं कि अनुवाद पर एक शोध स्तर की परियोजना शुरू की जाए.

प्रगतिशील और लोकतान्त्रिक छात्र समुदाय
Progressive and Democratic Student Community (PDSC)

# नई राजनैतिक संस्कृति का ताजा सन्दर्भ

*(जन आन्दोलनों के राष्ट्रीय समन्वय के पटना में हुए द्विवार्षिक सम्मेलन में पारित प्रस्ताव)*

'असंख्य मनुष्यों का जीवन ही मेरी राजनीति है।' गांधीजी की इस परिभाषा के अनुसार इस देश के तमाम जन-आन्दोलनों के साथी राजनीति ही करते आए हैं। जन आन्दोलनों के राष्ट्रीय समन्वय का गठन तो वैश्वीकरण नामक प्रतिक्रांति से लोहा लेने के लिए ही हुआ है। क्रांति जीवन के हर क्षेत्र में सकारात्मक बदलाव लाती है और प्रतिक्रांति जीवन के हर क्षेत्र में प्रतिगामी तब्दीलियां लाती है। हम सब एक समतामूलक समाज का ख्वाब देखते हैं और उसे हकीकत में बदलने के लिए रचना और संघर्ष के कार्यक्रम लेते हैं। हम जो ख्वाब देखते हैं उसका अक्स हमारे समूह में दिखाई देना चाहिए, उसके नेतृत्व में दिखाई देना चाहिए। मसलन, हम चूंकि 'जिसकी लड़ाई उसका नेतृत्व' के सिद्धान्त में यकीन रखते हैं इसलिए हमारे समूह में नीचे से ऊपर तक की इकाइयों में आदिवासी ,महिला, दलित, पिछडे, अल्पसंख्यक, किसान, मजदूर और कारीगरों की नुमाइन्दगी होनी चाहिए।

लोहिया ने 'रचना और संघर्ष' के लिए प्रतीक चुने थे- 'फावडा और जेल' । क्रांतिकारी राजनीति के लिए लोहिया ने तीसरा जरूरी तत्व बताया था - संसदीय

लोकतंत्र। इसका प्रतीक 'वोट' है। वोट की राजनीति में प्रत्यक्ष भाग न लेने वाले आन्दोलनों के लिए भी संसदीय लोकतंत्र जरूरी है। तानाशाही शासन में गैर दलीय आन्दोलनों का भी दमन होता है और संवाद की गुंजाइश नहीं होती। लोहिया के 'वोट , फावडा , जेल' में साथी सुनील ने दो और आयाम जोडे जो मौजूदा दौर में नई राजनैतिक संस्कृति के लिए जरूरी हैं।यह हैं- सिद्धांत और संगठन। पिछले कुछ समय में नई राजनीति की स्थापना के दावेदार लोगों के द्वारा भी सिद्धान्तविहीनता को सिद्धान्त के रूप में गौरव के साथ अपनाया गया। वैश्वीकरण के जरिए मजबूत होने वाली नव-साम्राज्यवादी शक्तियों ने योजनाबद्ध तरीके से सिद्धानविहीनता को बढ़ावा दिया। हमें यह ध्यान में रखना होगा कि अनैतिकता की जड़ में नीतिविहीनता ही होती है। जन आन्दोलनों के राष्ट्रीय समन्वय जैसे समूह को यह गौर करना होगा कि नीतिविहीनता के कारण ही 'भ्रष्टाचारविहीन पूंजीवाद' इन लोगों का विरोधाभासी आदर्श है। पूंजीवाद अनिवार्यतः 'याराना पूंजीवाद' ही होगा तथा इसलिए भ्रष्टाचार से मुक्त भी नहीं होगा।

दल और संगठन की कार्यप्रणाली में लोकतांत्रिक तरीका और व्यक्ति-केन्द्रित नेतृत्व की जगह सामूहिक नेतृत्व को अपनाना नई राजनीति के लिए बहुत जरूरी होगा। संघीय और विकेन्द्रीकृत ढांचे को हमें अपने संगठन/दल (परिवर्तन का औजार) में भी लागू करना होगा। संगठन और मोर्चे के बीच के सूक्ष्म भेद को नजरअंदाज करना नई राजनीति में बाधक होता है । पिछले दो दशकों मे बडे मोर्चों का गठन हुआ लेकिन समय बीतने के साथ-साथ इनका स्वरूप मोर्चे का नहीं रह गया, स्वतंत्र संगठन जैसा हो गया।

सत्ता की राजनीति से दूर रहे संगठन ,आन्दोलन और संस्थाओं की अपनी भी छोटी-मोटी सत्ता होती है। इन्हें यह समझना होगा कि गरीब और सताये गये लोगों की सुरक्षा तथा सशक्तीकरण के लिए काम करने की वजह से इन संस्थाओं और रैडिकल ग्रासरूट राजनैतिक संगठन एक जैसे जरूर दिखते हैं इसके बावजूद जन आन्दोलनों के राजनैतीकरण के लिए यह बहुत जरूरी है कि फर्क को ध्यान में रख कर रणनीति और नियम बनाए जाएं।राजनैतिक औजार के लिए जरूरी है वह समग्रता में नीति बनाये।यह एक अनिवार्य और आवश्यक विकास-क्रम है कि अनुभव बढ़ने के साथ जन आन्दोलन का हरेक कार्यकर्ता किसी एक समग्र राजनीतिक विचार धारा को आत्मसात करने की और बढे और किसी एक राजनीतिक दल से जुड़ जाय .। बड़ी बौद्धिक क्षमता वाला जन आन्दोलन नई राजनीतिक विचार धारा भी तैयार कर सकता है या किसी वर्तमान विचार धारा में नए आयाम जोड़ सकता है ।

कई आन्दोलन और संगठन मूल रूप से एक लक्षीय होते हैं। कई राजनीतिक दल किसी एक लक्षीय संगठन या आन्दोलन में शामिल हो सकते हैं। मसलन अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन , नागरिक अधिकार आन्दोलन ,बडे बांध विरोधी आन्दोलन या किसी पहाड को बचाने का आन्दोलन एक लक्षीय मोर्चे हैं। इनमें मुख्यधारा की राजनीति के अलग अलग दल भी निःसंकोच भाग ले लेते हैं। उस एक लक्ष्य के लिए इनका किसी मोर्चे के रूप में जुटना गलत भी नहीं है। राजनैतिक दल को समग्र नीति बनानी होती है तथा यह जरूरी होता है कि उसका सदस्य किसी और दल का सदस्य नहीं हो सकता।

नई राजनीति की यह अनिवार्य शर्त होगी कि वह यथास्थितिवाद की विरोधी होगी। ऐसी राजनीति की दूसरी शर्त उसका प्रभावशाली होना है।जन आन्दोलनों के राजनीतिकरण के बगैर नई राजनीति प्रभावशाली नहीं हो सकती।

मौजूदा राजनीति में पैसे का घिनौना खेल होता है।उम्मीदवार के चुनाव खर्च की सीमा होती है किन्तु दलों के चुनाव खर्च की कोई सीमा नहीं होती है। हर दल को पैसा देने वाले को टैक्स रियायत देते हुए चन्दा प्राप्त करने की सहूलियत होती है। किसी बडे जन आन्दोलन के उभार के साथ ही वैकल्पिक आर्थिक आधार तथा चुनाव सुधार लागू किए जा सकते हैं। पिछले लोकसभा चुनाव ने यह स्पष्ट किया है कि कॉर्पोरेट जगत के पैसों का चुनाव में दखल बढ़ रहा है। भ्रष्टाचार की जड में यह पूंजीवादी राजनीति है। इसका विकल्प जन आन्दोलनों से उपजी राजनीति होगी। देश पर आर्थिक तानाशाही थोपने के मौजूदा प्रयोग का प्रतिवाद जन आन्दोलन के राष्ट्रीय समन्वय से मजबूत होगा यह इस सम्मेलन की सुविचारित राय है। ●

# माइक्रोफाइनैंस का भ्रमित अर्थशास्त्र III

**बलबीर जैन**

माइक्रोफाइनेंस से गरीबी का उन्मूलन नहीं होता है, इससे शिक्षा का प्रसार भी नहीं होता है और ना ही इससे स्त्री सशक्तीकरण होता है- यह स्वीकारोक्ति उन थिंक टैंकों की है जो तीस वर्ष तक इस तरह के दावे करते रहे हैं और गरीबी उन्मूलन में माइक्रोफाइनेंस की भूमिका के मामले में मिथक प्रतिष्ठापित करने में कामयाब रहे हैं। भारत सहित कई विकासशील देशों की सरकारें इस मिथक को एक हकीकत समझती रही है और उनका सम्मोहन आज भी टूटा नहीं है। हाल में इसे तीन करोड़ स्वरोजगार अवसरों के सर्जन से जोड़ा गया है और इसे एक बहुत बड़ी उपलब्धि के रूप में पेश भी किया गया है। सरकारी तंत्र द्वारा बिना परखे इस तरह के दावे करने का आधार यही मिथक है।

तीस साल तक एकमिथक का प्रतिष्ठापित रहना कोई आसान बात नहीं है। पर सुविज्ञ सांख्यकीय तकनीकों पर आधारित शोध परिणामों से सम्मोहित नहीं होना बहुत ही मुश्किल है। इस संदर्भ में सर्वोच्च स्थान पर पिट और खांडेकर का 1998 में प्रकाशित शोध पत्र ''दी इम्पैक्ट ऑफ ग्रुप बेस्डटक्रेडिट प्रोग्राम्स ऑन पुअर हाऊसहोल ड्रस इन बांग्लादेशः डज दी जैन्डर ऑफ पार्टीसिपेंट्स मैटर?''है, जो कि अर्थशास्त्र के अतिप्रतिष्ठित जर्नल-जर्नल ऑफ पोलिटीकल इकोनोमी- में प्रकाशित हुआ है। इस शोध पत्र के अनुसार ''ऋण कार्यक्रमों से स्त्री वर्ग द्वारा प्रति 100 टका कर्जे से उनके परिवार के वार्षिक उपभोग व्यय में 18 टके का इजाफा होता है। जबकि इसकी तुलना में पुरुष वर्ग के मामले में 11 टके का इजाफा होता है।'' इस निष्कर्ष के अनुसार माइक्रोफाइनेंस स्पष्टतया गरीबी उन्मूलन के मामले में एक करिश्मे से कम नहीं है। पर क्या यह निष्कर्ष एकेडमिक जांच की कसौटी पर खरे उतरते हैं? विशेषज्ञों की राय में यह मात्र सांख्यकीय तकनीकों का ही कमाल है। इसके बावजूद अंतरराष्ट्रीय विकास समूह द्वारा समर्थित थिंक टैंकों ने इन निष्कर्षों का भरपूर इस्तेमाल करके माइक्रोफाइनेंस की पैरोकारी की है। सरकार के सलाहकार विशेषज्ञों द्वारा भी निष्पक्ष समीक्षकों की राय को अनदेखा किया जाना ताज्जुब की बात है।

पिट और खांडेकर के निष्कर्ष सांख्यकीय तकनीकों का ही कमाल है, ऐसा उनके शोध पत्र के उत्तरवर्ती अध्ययन से प्राप्त तुलनात्मक आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है। इस बहुउद्धरित शोध पत्र के उत्तरवर्ती अध्ययन ''माइक्रोफाइनेंस एण्ड पावरटीः इवीडेंन्स युजिंग पेनल डेटा फ्रॉम बांग्लादेश''का प्रकाशन 2005 में वर्ल्डबैंक इकोनोमिक रिव्यू में हुआ है। इस शोधपत्र से निष्कर्ष के तौर पर निकले तुलनात्मक आंकड़े निम्नलिखित तालिका में दिये गये हैंः

तालिका : माइक्रोफाइनेंस में हिस्सेदारी वाले परिवारों के विभिन्न आय वर्गों के औसत उपभोग व्यय में 1991-92 और 1998-99 के दौरान अनुमानित वृद्धि (प्रचलित दामों पर)

| आय वर्ग | अनुमानित वृद्धि ( प्रतिशत ) |
|---|---|
| 0–20% | 22% |
| 20–40% | 15% |
| 40–60% | 25% |
| 60–80% | 36% |
| 80–100% | 58% |

दरअसल,निचले 40 फीसदी वर्ग की आर्थिक स्थिति में गिरावट आई है। क्योंकि इस दौरान मूल्यवृद्धि की दर उनके प्रचलित दामों पर आय वृद्धि की दर से ज्यादा रही है। निचले वर्गों की स्थिति तो बद से बदतर हुई है। ऊपरी वर्गों की स्थिति सुधरने से गरीबी का उन्मूलन नहीं होता है। संवृद्धि में बराबर 'समावेश' नहीं है। ऊपरी वर्गों की अत्यधिक संवृद्धि से ही औसत संवृद्धि ज्यादा दिखती है। इस तरह के निष्कर्ष संदेहास्पद है और इन पर आधारित दावे खोखले ही थे।

आखिरकार वर्ल्डबैंक सहित अन्तरराष्ट्रीय विकास समुदाय ने माइक्रोफाइनेंस की गरीबी उन्मूलन में भूमिका के मामले में एक संशयात्मक दृष्टिकोण का इतना जबरदस्त और व्यापक समर्थन क्यों किया है? यह समर्थन माइक्रोफाइनेंस आंदोलन के शुरुआती दौर में ही हासिल हो गया था। गौरतलब है कि बांग्लादेश के प्रोफेसर मुहम्मद युनूस द्वारा माइक्रोफाइनेंसका नवप्रवर्तन 1976 में किया

गया और इसकी गरीबी उन्मूलन में भूमिका के विषय में तथाकथित ठोस साक्ष्य 1998 में ही पेश किया गया है। क्या इस तरह का पक्षपातपूर्ण रवैया पूर्वाग्रहग्रस्त नहीं है?

ऐसा अप्रत्याशित नहीं है।बाजार समर्थक और नवउदारवादी व्यवस्था की प्रतिस्थापना के लिए कल्याणकारी व्यवस्था को नकारना जरूरी है। गरीबी के प्रभावी उन्मूलन में सामाजिक हस्तांतरण की केंद्रीय भूमिका रही है- ऐसा स्वीडन जैसे देशों के अनुभव से स्पष्ट है। दूसरे शब्दों में गरीबी उन्मूलन के लिए कल्याणकारी व्यवस्था अवश्यंभावी है। पर इस बात को मानने से नवउदारवाद का खोखलापन स्पष्ट हो जाता है।

बाजारवाद के अनुरूप गरीबी उन्मूलन का तरीका तो किसी भी विकसित देश में अपनाया नहीं गया है। इसके लिए एक नये तरीके की खोज की जरूरत थी जो कि बाजारवाद और नवउदारवाद के अनुरूप हो। इस काम के लिए माइक्रोफाइनेंस को चुना गया है, ताकि गरीब परिवारों को स्व-रोजगार के द्वारा गरीबी से निजात मिल सके। पर ऐसा नहीं हुआ है। गरीबी का स्तर जैसे का तैसा बना हुआ है। आज भी भारत में लगभग 50 फीसदी बच्चे कुपोषण से ग्रस्त हैं और इस तथ्य के सामने गरीबी में भारी कमी के सरकारी दावों पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है।

पिछले तीन दशकों में भारत की आर्थिक संवृद्धि की दर काफी ज्यादा रही है। परिणामस्वरूप वास्तविक प्रति व्यक्ति आय चार गुणा हो गई है। पर इस आर्थिक संवृद्धि का फायदा 70 फीसदी आबादी को नहीं मिला है। बढ़ती हुई गैरबराबरी से समाज और अर्थव्यवस्था में तेजीसे ध्रुवीकरण हुआ है।

ध्रुवीकरण की प्रक्रिया 1991 से अब तक अपनाये गये आर्थिक सुधारों से जुड़ी है। कल्याणकारी व्यवस्था को नकारा गया है और अर्थव्यवस्था का ढांचा बाजारवाद और नवउदारवाद के अनुरूप ढाला गया है। इस दौरान सरकारी नीतियों का निर्धारण 'वाशिंगटन सहमति' के अनुसार किया गया है जिसका विवरण नीचे के बाक्स में दिया गया है। नवउदारवाद के अनुरूप आर्थिक सुधारों का संक्षिप्त विवरण

1. बजटीय घाटे पर नियंत्रण, 2. सरकारी व्यय का पुनर्दिशा निधारण, 3. कर प्रणाली में सुधार, 4. वित्तीय उदारीकरण, 5. प्रतिस्पर्धात्मक विदेशी मुद्रा विनिमय दर, 6. वैश्वीकरण, 7. निर्बाध विदेशी विनियोग, 8. निजीकरण, 9. सरकारी नियंत्रणों का न्यूनतम प्रयोग और 10 निजी स्वामित्व की कानूनन गारंटी।

इस तरह, नवउदारवाद में कल्याणकारी व्यवस्था को अतिसंकुचित रखा जाता है। जाहिर है कि बजटीय घाटे को नियंत्रित करने के लिए सरकारी खर्चों को कम करना जरूरी हो जाता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक क्षेत्र-शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं- पर सरकारी खर्चों को पिछले पचीस वर्षों में सीमित किया गया है।

नवउदारवाद का बेतहाशा अमल भारत जैसे देशों तक ही सीमित है। भारत में स्वास्थ्य सेवाओं का तेजी से निजीकरण किया गया है। पर ब्रिटेन में स्वास्थ्य सेवाओं का निजीकरण नहीं किया गया है। वहां आज भी स्वास्थ्य सेवाओं में नेशनल हेल्थ सर्विस का आधिपत्य है। 1980 से ब्रिटेन में नवउदारवाद का बोलबाला रहा है। पर वहां संभावित जन विरोध के कारण नेशनल हेल्थ सर्विस से छेड़छाड़ नहीं की गई है।

गौरतलब है कि ब्रिटेन में स्वास्थ्य सेवाओं पर राष्ट्रीय आय का मात्र 8 फीसदी खर्च ही स्तरीय स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने के लिए पर्याप्त है। जबकि अमेरिका में निजी क्षेत्र पर आधारित स्वास्थ्य सेवाओं पर राष्ट्रीय आय का 15 फीसदी खर्च किया जाता है।फिर भी तकरीबन 18 फीसदी जनसंख्या समुचित स्वास्थ्य सेवाओं से वंचित है।

नवउदारवाद के अंतर्गत संसाधनों की बरबादी का सिलसिला स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण तक ही नहीं है। माध्यमिक और उच्चशिक्षा में भी संसाधनों की बरबादी होती है। एक तरफ धनीवर्ग के कम योग्य छात्र पैसे के दम पर निजी क्षेत्र की उच्च शिक्षा संस्थाओं में दाखिला पा जाते हैं,जबकि अन्य वर्गों के सुयोग्य छात्र भी इन सुविधाओं से वंचित रहते हैं।

योग्यता पर धनी वर्गों का वर्चस्व नहीं है। सभी वर्गों में कुदरत ने बराबर योग्यता का आबंटन किया है। शिक्षा के अभाव में अन्यवर्गों के योग्य व्यक्तियों की योग्यता उभर नहीं पाती है। और इस तरह निजीकरण से एक अक्षम शिक्षा प्रणाली ही पनपती है। आज भी अमेरिका सहित विकसित देशों में सरकारी इमदाद में मिलने वाली धनराशि पर आधारित शिक्षा संस्थाओं का बाहुल्य है और शिक्षा में असमानता अपेक्षाकृत कम है।

माइक्रोफाइनेंस के समर्थन के पीछे विचारधाराओं का टकराव था। 1980 के पूर्व अमेरिका को छोड़कर सभी पश्चिमी देशों में कल्याणकारी व्यवस्था का बोलबाला था। 1950 और 1973 के बीच की अवधि को कई विद्वान कल्याणकारी व्यवस्था का स्वर्णयुग मानते हैं। इस दौरान स्वीडन आदि देशों में न केवल आर्थिक और सामाजिक

बराबरी बड़े पैमाने पर आई, बल्कि ये देश आर्थिक संवृद्धि में भी अग्रणी रहे हैं।

पर 1980 के दशक में स्वीडन जैसे कल्याणकारी राज्य व्यवस्था में अग्रणी देश आर्थिक संवृद्धि में यूरोप के कुछ देशों के मुकाबले पिछड़ने लगे थे। इसको कल्याणकारी व्यवस्था के विरोधियों ने नवउदारवाद के पक्ष में भुनाना शुरू कर दिया। इसी दौरान नवउदारवादी नीतियों को व्यवस्थित करते हुए इसकी आर्थिक नीतियों का वाशिंगटन सहमति के नाम से खुलासा किया गया है।1991 से भारत में इनका अक्षरश अमल किया गया है।

दूसरी ओर पश्चिमी देशों में नवउदारवादी शक्तियां ज्यादा पैठ नहीं बना पाई हैं। बाजारवादी और नवउदारवादी शक्तियां विकसित देशों में कल्याणकारी राज्य-व्यवस्था को उखाड़ने में नाकामयाब रही है। इस विषय में हम कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पाल रयान को उद्धृत कर सकते हैंः ''कल्याणकारी राज्य का प्रतिस्कंदन (आघात से संभलने का सामर्थ्य) उल्लेखनीय है। आर्थिक और सामाजिक दबाव के बावजूद, निर्बाध बाजारवादियों और उदारवादियों की लगातार आलोचना से घिरे रहने पर भी, और कई अन्य द्वारा भारी कांट-छांट की सलाह के बावजूद कल्याणकारी राज्य के मामले में मार्क त्वेन का यह कथन सटीक है किमेरी मृत्यु की खबर एक अतिश्योक्ति है।''

पश्चिमी देशों में नवउदारवाद को नकार दिया गया है,क्योंकि वहां जनमानस गैरबराबरी की तरफ मुड़ने को तैयार नहीं है। भारत में लोकतंत्र है।फिर भी कई वर्षों तक यहां का सरकारी तंत्र, जिसमें मुख्य धारा की सभी पार्टियों की बारी-बारी से शिरकत रही है, भारत की अधिसंख्य जनता को गरीबी उन्मूलन के नाम पर माइक्रोफाइनेंस जैसे झुनझुने ही थमा रहा है। क्या भविष्य में भी नये झुनझुने खोजे जाएंगे और गरीबी उन्मूलन के नाम पर थमाए जाएंगे? यह सिलसिला कब बंद होगा?

# वरिष्ठ सजप नेता साथी सुभाषचन्द्र नहीं रहें

समाजवादी जनपरिषद के वरिष्ठ नेता साथी सुभाषचन्द्र उपाध्याय नहीं रहे। वे 75 वर्ष के थे।समाजवादी आन्दोलन की इमानदार धारा में वे 55 से अधिक वर्ष तक वैचारिक धारावाहिकता के सातत्य के साथ सक्रिय रहे। युवजन राजनीति में वे जब सक्रिय थे तब समाजवादी धारा के युवा विदेशी गुलामी की प्रतीक विक्टोरिया (गोरखपुर में) तथा दिल्ली में लार्ड इरविन की प्रतिमाओं को तोड़ रहे थे। उनके नेता डॉ राममनोहर लोहिया यह उम्मीद रखते थे कि दल में जो ओहदेदार है वह पहले जेल जाएगा। गोरखपुर अंचल में समाजवादी मजदूर आन्दोलन की रहनुमाई करते हुए सुभाषचन्द्र डॉ लोहिया की इस उम्मीद पर खरे उतरते थे। उन्होंने गोरखपुर विश्वविद्यालय से जब प्रथम श्रेणी में एम.ए. की डिग्री हासिल की थी तब वे आसानी से किसी भी कॉलेज अथवा विश्वविद्यालय में अध्यापन शुरु कर सकते थे किन्तु राजनैतिक निष्ठा के कारण उन्होंने कभी नौकरी के लिए आवेदन नहीं किया। गोरखपुर के खाद कारखाने और चीनी मिल के मजदूरों के आन्दोलन में वे अगली कतार में रहे। बन्द कारखानों में रोजगार गंवा चुके मजदूर साथियों के दुख दर्द के लिए वे वर्षों बाद तक लड़ते रहे।

समाजवादी जनपरिषद के पूर्व प्रान्तीय अध्यक्ष साथी सुभाषचन्द्र की स्मृति सभा गत 20 जनवरी को गोरखपुर प्रेस क्लब में आयोजित की गई थी। इस सभा में सुभाषचन्द्रजी से जुडे पूर्वी उत्तर प्रदेश के सजप कार्यकर्ताओं के अलावा समाजवादी पार्टी और जनता दल (युनाइटेड) के नेताओं ने उन्हें श्रद्धान्जलि अर्पित की। सभा में मुख्यतः एडवोकेट शंकर प्रसाद गुप्त, श्यामानंद श्रीवास्तव, फतेहबहादुर सिंह, अश्विनी पाण्डे, गौतमलाल श्रीवास्तव, राम सिंह, जीतेन्द्र राय, दिनेश साही, सुरेन्द्र उर्फ नरसिंह, रामनवल निषाद, विक्रमा मौर्य, सैय्यद मकसूद अली, रामाज्ञा राजभर, रामजस प्रसाद, रामप्रसाद यादव, उमेश यादव, फेकू निशाद, मेवालाल यादव, राजपाल मिश्रा, दीपक पान्डे, राजवंशी मौर्य,राममूरत, शैलेश तथा अफलातून ने विचार व्यक्त किए। सभा की अध्यक्षता समाजवादी जनपरिषद के प्रान्तीय अध्यक्ष शेषमणि त्रिपाठी ने की तथा संचलान दल के राज्य सचिव सत्येन्द्र यादव ने किया। साथी सुभाषचन्द्र के पुत्र सिद्धार्थ ने इस मौके पर दल की सदस्यता ग्रहण की।

# कहानी और उपन्यास की उपयोगिता

**अशोक सेकसरिया**

(प्रतिष्ठित पत्रकार ,लेखक एवं विचारक अशोक सेकसरिया की दूसरी पुण्य तिथि के अवसर पर 29 नवंबर 2016 को उनसे जुड़े लोगों का समागम कोलकाता से करीब चालीस किलोमीटर दूर कांचरापाड़ा में हुआ। 16 अगस्त 1934 को जनमे अशोकजी का निधन 29 नवंबर 2014 को हुआ था। उनकी जयंती और पुण्य तिथि के दिन उनके संपर्क में रहे लोग अपने प्रिय अशोकजी को विशेष रूप से याद करने के लिए इकट्ठे होते हैं। इस इकट्ठे होने का नाम दिया गया है —अशोकजन समागम। यह समागम बेहद अनौपचारिक होता है जिसमें शामिल हर व्यक्ति अपने अपने तरह से देखे समझे अशोकजी के बारे में चर्चा करता है। इस बार समागम में अशोकजी के लेख' कहानी और उपन्यास की उपयोगिता' का पाठ भी किया गया।

यह लेख कांचरापाड़ा से एक वक्त डॉ. भोला प्रसाद सिंह के संपादन में निकलनेवाली पत्रिका 'कण' के अक्टूबर-दिसंबर 1991 अंक में छपा था। कण के पांच अंक निकले और अशोकजी ने लगभग सभी अंकों में कुछ न कुछ लिखा। गैर व्यावसायिक और सह-मना पत्रिकाओं को हर तरह से सहयोग करना हमेशा उन्होंने चुपचाप अपना कर्तव्य माना। इस लेख में एक अन्य कर्तव्य बोध का स्वर सुनाई पड़ता है— साहित्य चर्चा के नाम पर बौद्धिक दंभ से आक्रांत बुद्धिजीवियों और साहित्य शोधार्थियों के वृत्त के बाहर के बृहत्तर समाज के युवाओं और साहित्य में दिलचस्पी रखनेवाले पाठकों से संवाद करने का कर्तव्य बोध।

आजीवन एक बेहतर समाज की कल्पना कके साथ जीनेवाले अशोकजी' सामायिक वार्ता ' के साथ जीवनपर्यंत अभिन्न रूप से जुड़े रहे। इस लेख को उनके प्रति श्रद्धांजलि के साथ साहित्य चर्चा के बुनियादी सवालों को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से यहाँ छापा जा रहा है।)

कहानी और उपन्यास साहित्य की सबसे जनप्रिय विधाएँ हैं। जनप्रियता के इस गुण के कारण उन्हें निबंध, लेख, आलोचना और कविता से हेय या कमतर मानने की गलती बड़े-बड़े गुणी लोग तक करते हैं। माता-पिता तो अक्सर बच्चों को कहानी- उपन्यास पढ़ता हुआ देखने पर कहते हैं, 'पढ़ना हो तो ज्ञान बढ़ाने वाली चीज पढ़ो, किस्सा-कहानी पढ़ कर वक्त क्यों बरबाद करते हो'' यह सही है कि एक प्रकार के अत्यधिक बिकने वाले कहानी-उपन्यास साहित्य का मकसद पाठकों का छिछला मनोरंजन करना और उनका समय बिताना होता है। ऐसा साहित्य बाजार को नजर में रखकर किया गया बाजारू लेखन है। यहाँ हमारा आशय इस प्रकार के साहित्य से कतई नहीं है, वह तो उस कहानी-उपन्यास के महात्म्य या महत्ता और उसकी व्य्-िजीवन और समाज-जीवन के लिए उपयोगिता पर दो-चार मोटी-मोटी बातें लिखना चाहते हैं।

आम आदमी और शिक्षित आदमी की कहानी-उपन्यास के बारे में लगभग एक जैसी ही धारणा है। इसका एक कारण यह है कि हमें स्कूल से ही यह सिखाया जाता है कि फलाँ कहानी फलाँ उपन्यास का फलाँ उद्देश्य है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कहानीकार या उपन्यासकार ने अपनी रचना में चरित्रों का चित्रण और घटनाओं का समावेश किया है। कॉलेज और विश्वविद्यालय में पहुँचने का निरर्थक शब्दावली में हमें कहानियों व उपन्यासों का वर्गीकरण करने, उनकी रचनात्मक प्रक्रियाओं को अनदेखा करने और उन्हें बँधे-बँधाए आलोचनात्मक मानदण्डों के मुताबिक फिट करने का निरर्थक कौशल सिखाया जाता है। कहानी-उपन्यास की सामर्थ्य सेत उनकी अमित संभावनाओं से हमारा परिचय होने ही नहीं दिया जाता। यह परिचय तो हमें खुद करना पड़ता है लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि हमारे अध्यापकों व हारी शिक्षा व्यवस्था ने हमारे दिमाग में जो कूड़ा भरा है उसे साफ करने की इसमें प्रवृत्ति हो और हम खुले मन और दिमाग से पढ़ें।

कहानी-उपन्यास का माहात्म्य क्या है? मनुष्य में कहानी सुनने और कहने का आदिम प्रवृत्ति है। हमारे जीवन-मूल्य सिर्फ भौतिक परिस्थितियों से ही नहीं, कहानी सुनने और कहने से भी बने हैं। कहानी जब सीधे उपदेश देने लगती हैं तब वह अखरती है। लेकिन जब वह, जो हो रहा है उसे बताती है। और इस प्रकार बताती है कि होने की प्रक्रियाओं का हमें आभास होता रहे तो उसका असर गहरा होता है। एक कहानीकार या उपन्यासकार एक साथ अतीत, वर्तमान और भविष्य के सम्मुख होता है और वह ऐसी चीजों को लिखता है जिनको वह जानता है, जिनको जानने की प्रक्रिया उसके भीतर चल रही होती है और जिनके बारे में वह अनिश्चित होता है यानी जो उसे अपनी समझ के धरातल पर प्रकट नहीं हुई मालूम पड़ती है। इस प्रकार अपने चेतन और अवचेतन दोनों को जगा कर लिखता है। यह सारा व्यापार एक संसार का निर्माण करता है। उपन्यास में ही यह गुण

है कि वह इस दुनिया के समानांतर एक संसार रचे। पाठक जब इस समानांतर संसार में प्रवेश करता है तो वह इस समानांतर संसार के ही समानांतर अपना ही संसार रचने लगता है क्योंकि पाठक को लेखक का संसार अपना समानांतर संसार बनाने को प्रेरित करता है। इस तरह उप्यास पाठक में रचनात्मकता के द्वार खोल देता है। यह काम और कोई विधा नहीं करती। रचनात्मकता, तर्क और बुद्धि के साथ और उनके परे दोनों ही स्तरों पर काम करती है। तर्क, और बुद्धि और रचनात्मकता का संयोग एक अनूठा संयोग है जो व्यक्ति को बोध प्रदान करता है, उसकी सुप्त संवेदनाओं या उसके सुप्त व्यक्तित्व को जगाता है।

हम जब सस्ते उपन्यासों को पढ़ते और सस्ती फिल्मों देखते हैं तब हम जीवन को एक ही आयाम में देखते हैं, उसके त्रिविध रूपों और विकल्पों का हमें आभास ही नहीं होता। सस्ते उपन्यास और सस्ती फिल्में जीवन-विरोधी हैं क्योंकि वे व्यावसायिक हितों को मद्देनजर रखकर पाठक और दर्शक को सरलीकृत एक आयामी दृष्टि प्रदान करती हैं। जीवन की जटिलताओं का ज्ञान, उसकी विविधता से परिचय और विकल्पों की तलाश ही जीवन का संघर्षमय आनन्द है। सस्ते उपन्यास व सस्ती फिल्में हमें जीवन के इस आनंद से वंचित कर एक झूठा और नकली मजा देते हैं। वे राशिफलों की तरह झूठे उत्तर दे कर हमें बिना सोचे विचारे किसी स्थिति को स्वीकार करने और उससे चिपके रहना सिखाते हैं। सस्ते उपन्यासों और सस्ती फिल्मों के बारे में इतना लिखने का उद्देश्य यह है कि हमारे देश के बड़े शहरों के उपनगरों में जो तथाकथित शिक्षित वर्ग रहता है उसकी अपनी समझ कुछ भी नहीं है। वह सिर्फ कलकत्ता, दिल्ली, बम्बई में जो होता है, पत्र-पत्रकाओं में छपता है, टी.वी. पर जो दिखाया जाता है, उसे ही महसूस नहीं कर पाता कि किस तरह उसको लगातार और गैरजरूरी माल बेचा जा रहा है।

इस छोटे से लेख का उद्देश्य पाठकों को अच्छा कहानी-उपन्यास साहित्य पढ़ने को प्रवृत्त करता है। 'कण' के पाठक 'हिन्दी' के अच्छे उपन्यासों को पढ़ने के साथ बांगला, कन्नड़, मराठी आदि के उपन्यासों व कहानियों के जो अनुवाद उपलब्ध हैं, उन्हें पढ़ें। रूसी लेखकों— टाल्सटाय, चेखब, दोस्तोवस्की, गोगोल की जो भी रचनाएँ हिन्दी अनुवाद में मिले उन्हें पढ़ें। यह एक प्रकार के उपदेश जैसी बात लगती है। उपदेश देने का अधिकार किसी को नहीं होता लेकिन अपने अनुभवों को बताने का जरूर होता है। हमें अपने व्यक्तिगत अनुभवों से यह लगता है कि टाल्सटाय, चेखव, दोस्तोवस्की, शरत्चन्द्र, विभूतिभूषण, ताराशंकर, प्रेमचंद (ये नाम तत्काल याद आगेय) जैसे लेखकों के उपन्यासों से आदमी बनने में बड़ी मदद मिलती है— उनसे संवेदना का विस्तार होता है। आज हमारे जीवन से संवेदनाओं का लोप हो रहा है और उसका जो अमानवीकरण या अमानुषिकीकरण हो रहा है, उसका प्रतिकार आवश्यक है। इसके लिए हमें जो सुन्दर है, जो रचनात्मक है उसकी शरण लेनी पड़ेगी। महान उपन्यास साहित्य जो सुन्दर है और रचनात्मक है उससे हमारा परिचय कराता है। औद्योगिक सभ्यता और उससे जुड़ी उपभोक्ता संस्कृति इस परिचय को होने नहीं देना चाहती। इसलिए मन में कहीं यह बात आती है कि अगर लोग महान उपन्यास साहित्य को पढ़ें तो उनका सुन्दर और रचनात्मक से परिचय होगा। आज जो कहानी-उपन्यास साहित्य लिखा जा रहा है वह एक प्रकार के बौद्धिक दंभ से आक्रांत है और कहीं औद्योगिक सभ्यता के उपभोकता संस्कृति का शिकार है। यह पाठक की संवेदनाओं को झंकृत करने की कोशिश नहीं करता। उसकी स्मृतियों को जगाता नहीं वरन् उन्हें विस्मृति के गर्भ में डालने को प्रवृत्ति करता है। इसके पीछे आधुनिकता की गलत समझ और मान्यता है। हमारे अपने संदर्भ में आधुनिकता क्या है, उसकी पहचान करने के बजाय हमने पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता और उपभोक्ता संस्कृति को आधुनिक मान लिया है। आधुनिकता का मतलब यथार्थ का वर्णन करना नहीं, जीवन की अमित संभावनाओं और उसके विविध रूपों को प्रकट करना है। आज का पाठक यदि सिर्फ पत्र-पत्रिकाओं में छपनेवाली कहानियों और समकालीन उपन्यासों को पढ़ता है तो उसे जीवन में जो सुन्दर और रचनात्मक है उसका परिचय प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती। यह एक ट्रेजडी है। उसके लिए पुराने महान उपन्यास साहित्य को पढ़ना इसलिए भी आवश्यक है कि वह सुन्दर और रचनात्मक से परिचय प्राप्त करे।

व्यक्ति-जीवन और समाज-जीवन में कहानी-उपन्यास साहित्य की उपयोगिता की बात हमने इस लेख के शुरू में कही है। यह उपयोगिता किस प्रकार की है? कहानी-उपन्यास साहित्य की प्रत्यक्ष कोई उपयोगिता नहीं दिखाई पड़ती। इसलिए उसे सिर्फ मनोरंजन मानने की गलती की जाती है। कहानी उपन्यास साहित्य का प्रभाव हमेशा अप्रत्यक्ष होता है और शायद इसीलिए वह कहीं गहरा होता है। जब हम कहानी या उपन्यास पढ़ते हैं तो उसकी बातों को कुछ उसी तरह ग्रहण और नरअंदाज करते हैं जिस तरह शिशु अपने आस-पास की चीजों को करता है। यह एक प्रकार का चमत्कार ही है कि कहानी-उपन्यास

इसमें वह वृत्ति जगाते हैं जो उमर के साथ हम खो बैठते हैं। हमारे ख्याल में जिसने शरतचंद्र के साहित्य को पढ़ा है वह कितना ही पुरुष-दर्प वाला क्यों न हो स्त्री के प्रति कुछ न कुछ उदार होने को प्रवृत्त होता है। व्यक्ति-जीवन और समाज-जीवन में कहानी-उपन्यास की उपयोगिता का पैमाना दूसरा ही है, वह व्यक्ति और समाज की मानसिकता बनाने से जुड़ा है। हमारे जैसे निरक्षर देश में ज शिक्षित वर्ग है उसकी मानसिकता ही सारे देश की मानसिकता बन जाती है। आज इस वर्ग की मानसिकता में नकल और उपभोग ही प्रधान है। इस वर्ग में धीरे-धीरे ऐसे लोगों की संख्या प्रायः समाप्त होती जा रही है जिनमें रचनात्मकता के प्रति आग्रह हो। रचनात्मकता के प्रति आग्रह न होना व्यक्ति-जीवन और समाज-जीवन को सड़ने देना है। महान कथा और उपन्यास साहित्य इसमें वह आग्रह पैदा करता है।

●

# शोक सभा का प्रस्ताव

दिनांक 23.10.2016 को गाँव वरसी, प्रखण्ड-तरारी, जिला-भोजपुर में आयोजित यह शोक सभा बिहार में सोशलिस्ट आंदोलन के एक प्रमुख हस्ती, स्वतंत्रता सेनानी व पूर्व विधायक 94 वर्षीय राम एकबाल वरसी के निधन पर गहरा शोक प्रकट करती है।

एक गरीब किसान परिवार में जन्मे दिवंगत वरसी जी अपनी प्रतिभा, त्याग, कर्मठता तथा देशभक्ति के कारण राजनीति में अंतिम ऊँचाई तक पहुँचे थे। समाजवादी विचार किशन पटनायक के परम सहयोगी के रूप में वे लोहिया विचार मेच समता संगठन, समाजवादी जन परिषद के संस्थापक सदस्यों में थे।

आजादी के पहले कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य के रूप में 42 के भारत छोड़ो आंदोलन में छोटी उम्र में ही गिरफ्तार होकर जेल गए थे।

सत्य, न्याय तथा समता के लिए हर जोर-जुल्म के खिलाफ इनकी संघर्षशीलता व जुझारूपन को देखकर डा0 लोहिया ने इन्हें ''पीरो के गांधी'' की उपाधि से नवाजा था।

1950 के दशक में प्रसोपा नेतृत्व द्वारा डा0 लोहिया को पार्टी से निकाले जाने पर वरसी जी के शाहाबाद जोन के अपने बहुसंख्यक साथियों के साथ डा0 लोहिया की नव स्थापित सोशलिस्ट पार्टी में शामिल होकर उसे मजबूत बनाया। सोशलिस्ट पार्टी के द्वारा जब भी सिविल नाफरमानी का बिगुल बजा शाहाबाद जोन से बड़े पैमाने पर लोगों ने वरसी जी के नेतृत्व में गिरफ्तारियाँ दीं। सामूहिक सत्याग्रह के अलावे वरसी जी पुलिस प्रशासन के खिलाफ व्यक्तिगत सत्याग्रह करके अनेक बार जेल गए। इस तरह उनके जीवन का काफी समय जेल में बीता।

अपनी कर्मठता व लोकप्रियता के कारण ये 1969 में संसोपा टिकट पर विधान सभा सदस्य जुने गए थे। 1977 में भी जनता पार्टी द्वारा इन्हें विधान सभा का टिकट दिया गया था, मगर दूसरे साथियों को मौका देने के लिए उसे वापस लौटाकर त्याग का अद्‌भुत उदाहरण प्रस्तुत किया था।

70 के दशक में संसोपा नेतृत्व के दिशाहीन होने पर इन्होंने किशन पटनायक के साथ संसोपा के शुद्धिकरण के लिए लोहिया विचार मंच बनाया था। ये आपातकाल के दौरान भी मिसा के तहत गिरफ्तार होकर लंबे संय तक जेल में रह चुके हैं।

जनता पार्टी के पतन के बाद वरसी ने किशन पटनायक के साथ वैकल्पिक राजनीति के निर्माण का अभियान शुरू किया और उसी सिलसिले में 1980 में समता संगठन तथा 1995 में समाजवादी जन परिषद की स्थापना की गई थी।

जीवन के आखिरी दौर में सभी स्थापित दलों से उनका मोहभंग हो गया था। 1991 के बाद गाँव व किसानों पर बढ़ते संकट तथा खेती में बढ़ते घाटे से लड़ने के लिए उन्होंने गाँवों में ''गाँव संघ'' बनाने का अभियान शुरू किया था, मगर कार्यकर्ताओं के अभाव में यह अभियान जोर न पकड़ सका।

वरसी जी के निधन से देश, समाज तथा समतावादी आंदोलन की अपूरणीय क्षति हुई है। देश में वैकल्पिक राजनीति-निर्माणार्थ जारी अभियान को भी धक्का लगा है।

अन्त में शोक सभा उनके शोक संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना व्यक्त करती है। यह सभा वरसी जी के त्यागमय जीनव, कर्मठथा, अटूट देशभक्ति व संघर्षशीलता के समक्ष नतमस्तक है और उनके प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करती है।

पुस्तक समीक्षा

# सीताराम सिंह

**नवीन**

मुल्क की आजादी के लिए चले सशस्त्र आंदोलन में लाहौर षडयंत्र केस (जिसमें शहीदे आजम भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी की सजा मिली), चट्टगाँव शस्त्रागार कांड (जिसमें मास्टर सूर्यसेन के नेतृत्व में साठ छात्रों ने शस्त्रागार पर हमला करके चट्टगाँव पर आधिपत्य कायम कर लिया था) की तरह सूरज नारायण सिंह की कप्तानी में आजाद दस्ता के सेनानियों ने अगस्त क्रांति (1942) के नायकद्वय लोकनायक जयप्रकाश नारायण और डॉ. राममनोहर लोहिया को नेपाल के हनुमान नगर जेल पर आक्रमण करके छुड़ा लिया था। इसी आजाद दस्ता के 19 वर्षीय सेनानी सीताराम सिंह के ऊपर डा0 व्रज कुमार पांडेय के सम्पादन में 'सीताराम सिंह राज्य सभा में'' 2016 में छप कर सामने आयी है।

पुस्तक के दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में सीताराम सिंह के राज्य सभा 1970-1976 में छह वर्षीय कार्यों का विस्तृत विवरण है। दूसरे खंड में उनके ऊपर लिखे गए संस्मरणों का संकलन है।

राज्य सभा के वह मुखर व सक्रिय सांसद के रूप में जाने गए। राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय व इलाकाई मामले को वह शिद्दत से उठाते रहै। उत्पीड़ित व उपेक्षित तबकों— दलित, पिछड़ा, आदिवासी व औरतों की समस्याओं को वह लगातार उठाते हुए सरकार को कटघरे में खड़ा करते रहे। अपनी बातों को जोरदार व प्रभावी बनाने के लिए सीताराम ने कई मर्तबा कविताओं से भी उद्धरण दिए।

सीताराम जी ने बिहार प्रदेश के कांग्रेसी मंत्री-नेता स्व0 रघुनाथ पांडेय के तत्कालीन रेलमंत्री ललित नारायण मिश्र से नज़दीकी सम्बन्ध के बारे में सदन को बताया था कि रघुनाथ पांडेय ने मिश्राजी से मधुवनी के चुनाव में 200 जीप, बसें और 500 लठैत भेजे थे। उन्होंने राज्यसभा को बताया था कि रघुनाथ पांडेय ने तस्करी से अकूत धन उपार्जित किया है। उन्होंने स्व. पांडेय जी की सम्पत्ति की जाँच कराने की माँग करते हुए कहा था कि बीस साल पूर्व वह अत्यन्त सामान्य नागरिक थे।

गौरतलब है, हाजीपुर में आज जहाँ पूर्व मध्य रेल का मुख्यालय है, वह तो रेलमंत्री एल.एन. मिश्रा ने रामौतार बंका को 11 वर्ष की लीज पर देने का निर्णय कर ही लिया था। सीताराम जी की दूरदृष्टि ने रेलवे की इस 16 एकड़ ज़मीन का भविष्य भाँप लिया था। उन्होंने सदन को बताया कि बड़ी लाइन बन रही है, ऐसी अवस्था में रेलवे कॉलोनी की जरूरत हाजीपुर में होगी तो फिर कॉलोनी बनाने के लिए गरीबों से जमीन छीनी जाएगी। सीताराम जी ने प्रमुखता से इस मुद्दे को उठाया। फलतः सरकार को अपना निर्णय वापस लेना पड़ा।

वरिष्ठ समाजवादी लेखक-विचारक सच्चिदानंद सिन्हा ने अपने लेख में अगस्त क्रांति में शानदार भूमिका निभाने वाले सीताराम जी का सश्रद्ध संस्मरण करते हुए उनके दीर्घायु होने की कामना की है।

अगस्त क्रांति में उनकी यह महनीय भूमिका को लेकर इसके अतिरिक्त तीन और लेख हैं, जो 'दैनिक जागरण' और 'महानगर कहानियाँ' में पहले छपे थे। सीताराम बाबू ने विभिन्न मुद्दों को लेकर सरकार को छह पत्र लिखे थे, वह भी इस किताब में संकलित है। सीताराम बाबू का एक छोटा स्मृति लेख 'घर घूमन दादा की डायरी से' भी इस किताब में लिया गया है। इससे सीताराम बाबू की अप्रतिम संवेदनशीलता उजागर होती है।

ज्ञात हो, अगले साल सीताराम बाबू शतायु वर्ष में प्रवेश करेंगे। राज्यसभा के सदस्य होने के बावजूद सीताराम बाबू राज पथ के नहीं, लोकफत के राही रहे। कृतज्ञ समाज को अगस्त क्रांति के इस अग्रदूत का नागरिक अभिनंदन करने और उन पर अभिनंदन ग्रंथ निकालने की प्रक्रिया अभी से शुरू कर देनी चाहिए। सबसे बड़ी श्रद्धांजलि तो यह गोगी कि हाजीपुर में पूर्व मध्य रेल मुख्यालय परिसर में एक शिलापट्ट लगा दिया जाए, जिसमें यह अंकित हो कि सीताराम सिंह के अथक प्रयास से ही रेलवे की यह ज़मीन महफ़ूज़ रह सकी।

इस प्रकरण में हम पड़ोसी मुल्क बांग्ला देश से प्रेरणा पा सकते हैं। जैसा कि हमने शुरू में ही चट्टगाँव शस्त्रागार कांड की चर्चा की है। चट्टगाँव शस्त्रागार के आखिरी जीवित अभियुक्त विनोद निहारी चौधुरी का शताब्दी समारोह खूब धूमधाम से 2010 में मनाया गया। इसमें नोबुल पुरस्कार विजेता मोहम्मद युनुस की भी सक्रिय भूमिका थी। बाद में 103 वर्ष की अवस्था में विनोद विहारी चौधुरी की मृत्यु हो गयी 2013 में।

पुस्तक : सीताराम सिंह — राज्य सभा में
सम्पादक - डॉ. व्रज कुमार पांडेय, अभिधा प्रकाशन, रामदयालु नगर, मुजफ्फरपुर, कीमत 400 रुपये

# सजप राष्ट्रीय कार्यकारिणी द्वारा पारित राजनैतिक प्रस्ताव

अघोषित छुपा धन समाप्त करने,नकली नोटों को ख़त्म करने तथा आतंकियों के आर्थिक आधार को तोड़ने के घोषित उद्देश्यों को पूरा करने में नोटबंदी का कदम पूरी तरह विफल रहा है। इसके साथ ही इस कदम से छोटे तथा मझोले व्यवसाय व् उद्योगों को जबरदस्त आघात लगा है।महिलाओं, किसानों और मजदूरों तथा आदिवासियों की माली हालत व रोजगार के अवसरों पर भीषण प्रतिकूल असर पड़ा है।इस संकट से उबरने में लंबा समय लग जाएगा।

उपर्युक्त बाते समाजवादी जनपरिषद की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की होशंगाबाद जिले के ग्राम भूमकापुरा में हुई बैठक में देश की वर्तमान परिस्थिति पर पारित प्रस्ताव में कही गयी है।इस प्रस्ताव में कहा गया है कि केंद्र सरकार का 'नागदीविहीन अर्थव्यवस्था' का अभियान चंद बड़ी कंपनियों को विशाल बाजार मुहैया कराने के लिए है। प्रस्ताव में कहा गया है कि जमीन, मकान तथा गहनों की खरीद फरोख्त में नागदविहीन लेन देन को अनिवार्य किए जाने से छुपे, अघोषित धन के एक प्रमुख स्रोत पर रोक लगाई जा सकती है परंतु सरकार की ऐसी कोई मंशा दिखाई नहीं दे रही है।

एक अन्य प्रस्ताव में विदेशों से गेहूं के आयात पर आयात शुल्क पूरी तरह हटा लिए जाने की घोर निंदा की गयी तथा समस्त किसान संगठनों से आवाहन किया गया कि इस निर्णय का पुरजोर विरोध करें।

दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने भारत के चुनाव आयोग से मांग की है कि पांच राज्यों में होने वाले विधान सभा चुनावों के पूर्व आम बजट पेश करने पर रोक लगाए।आयोग को भेजे गए पत्र में कहा गया है कि आगामी 31 मार्च 2017 के पूर्व बजट पेश करना गैर जरूरी है तथा यह चुनाव की निष्पक्षता को प्रभावित करेगा।

दल का आगामी राष्ट्रीय सम्मलेन 29,30 अप्रैल तथा 1मई को पश्चिम बंग के जलपाईगुड़ी में होगा।सम्मलेन में नौ राज्यों के 250 प्रतिनिधि भाग लेंगे।

राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक में मुख्यतः निशा शिवूरकर,संतू भाई संत,विक्रमा मौर्य, राजेंद्र गढवाल, रामकेवल चौहान,अनुराग मोदी,फागराम,अखिला,रणजीत राय,अफलातून,स्मिता, डॉ. स्वाति आदि ने भाग लिया। अध्यक्षता दल के राष्ट्रीय अध्यक्ष जोशी जेकब ने की।

---

<u>गतिविधियाँ</u>

# धूपगुड़ी में किसान सम्मेलन

समाजवादी जनपरिषद की पश्चिम बंग इकाई ने जलपाईगुड़ी जिले के धूपगुड़ी स्थित 'रेग्युलेटेड मार्केट' में किसान सम्मेलन का आयोजन किया। उत्तर बंग के विभिन्न जिलों से आए हुए किसानों ने कहा कि भारत सरकार सरकार द्वारा खेती को दोयम दर्जा देने की नीति चिरंतन है। सम्मेलन में सजप के राष्ट्रीय सचिव रणजीत राय ने कहा कि 'मां, माटी, मानुष' का नारा देने वाली राज्य सरकार तथा विकास के सपने दिखाने वाली केन्द्र सरकार दोनों ने ही राज्य के तथा देश के तथाकथित विकास के नाम पर देशी विदेशी पूंजीपतियों को सस्ते मूल्य पर कृषियोग्य जमीन, आधारभूत ढांचा तथा सस्ती बिजली मुहैया कराना जारी रखा है। अपना जीवन स्तर ऊंचा करने के लिए तत्पर सिविल सोसाइटी के लोग भी गरीब व बेरोजगार किसान-मजदूर के दुख समझना नहीं चाहते।

सजप के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष एडवोकेट कमल बनर्जी ने कहा कि हमारे देश की सरकार अडाणी जैसे अरबपतियों को राष्ट्रीयकृत बैंकों से 75,000 करोड रुपये ऋण दिलवाती है,मगर देश के अन्नदाता किसानों प्राकृतिक आपदाओं से होने वाले 5 लाख करोड के नुकसान की भरपाई नहीं करना चाहती। कृषि विशेषज्ञ श्यामल रायवीर ने किसानों को समझाया कि रासायनिक खेती के दुष्परिणामों को लोग समझ चुके हैं मगर कृत्रिम ढंग से केचुओं को मिट्टी में मिला कर खेती करना भी हानिकारक है। सिर्फ गोमूत्र व गोबर से तैयार जमीन में रासायनिक रहित खेती को ही जैविक खेती माना जा सकता है। ऐसी जैविक खेती की पैदावार ही किसानों के लिए लाभकारी हो सकती है।

सजप के पश्चिम बंग के राज्य महामंत्री श्री बिल्कन बारा ने कहा कि डंकल प्रस्ताव व गैट समझौते के पश्चात

सरकार ने देश के जल, जंगल, जमीन, शिक्षा, स्वास्थ्य, बीमा, खेती सभी को औद्योगिक घरानों के हाथ सौंप दिया है। अरुण कांति रायसिंह ने कहा कि धूपगुड़ी नियन्त्रित बाजार के शेड भी बडे व्यापारियों को दिए जा रहे हैं जिसके फलस्वरूप किसान धूप, आंधी, बरसात झेलते हुए खुले आसमान के नीचे सड़क पर अपनी फसल बेचने को मजबूर हैं। सम्मेलन में 'रेग्युलेटेड मार्केट' की इस दुर्व्यवस्था के खिलाफ प्रस्ताव भी पारित किया गया।

सम्मेलन में घनघोर वर्षा के बावजूद सजप के जिला महामंत्री अशोक रायवीर व नॉर्थ बंगाल मोटर कर्मी संघ श्री ईश्वर अधिकारी समेत सजप के अनेक कार्यकर्ताओं तथा किसानों की उत्साहजनक भागीदारी रही।

**रणजीत राय**, राष्ट्रीय सचिव, सजप

●

# शोक सभा

बिहार में सोशलिस्ट आंदोलन के एक प्रमुख हस्ताक्षर, स्वतंत्रता सेनानी व पूर्व विधायक श्री राम एकबाल बरसी का निधन एक संक्षिप्त बीमारी के बाद पटना के इन्दिरा गाँधी आयुर्विज्ञान संस्थान में गत 10-102016 को हो गया। दाह संस्कार उनके पैतृक गाँव भोजपुर जिले के वरसी गाँव में राजकीय सम्मान के साथ संपन्न हुआ। गत 23 अक्टूबर को वरसी गाँव में ही श्राद्धभोज के मौके पर दोपहर में बड़ी शोकसभा का आयोजन किया गया, जिसमें कई जिलों से विभिन्न राजनैतिक दलों व संगठनों के सामाजिक, राजनैतिक कार्यकर्ताओं ने भाग लिया। शोकसभा की अध्यक्षा वरसी के साथ समाजवादी आंदोलन में रहने वाले तथा पीरों के पूर्व विधायक श्री रघुपति गोप ने की।

शोकसभा में करीब एक दर्जन से अधिक वक्ताओं ने अपना भावोद्‌गार व्यक्त करते हुए दिवंगत वरसी के कृतित्व व व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला। शोक सभा में एक शोक प्रस्ताव द्वारा वरसी जी के त्यागमय जीवन, कर्मठता, अटूट देशभक्ति को नमन करते हुए उनके प्रति भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की गई। सभा विसर्जन के पूर्व वरसी की स्मृति में दो मिनट का मौन धारण किया गया।

शोक प्रस्ताव में दिवंगत राम एकबाल वरसी जी को स्वतंत्रता सेनानी के साथ-साथ समाजवादी आंदोलन के दो प्रख्यात विचारकों— डा० लोहिया तथा किशन पटनायक के प्रमुख सहयोगियों में से एक बताया गया। आगे कहा गया कि सैद्धांतिक मुद्दे पर डा० लोहिया को त्कालीन प्रसोपा नेताओं से मतभेद होने पर जब डा० लोहिया ने अलग पाटी बनाई तो ऐसे कठिन समय में वरसी जी ने अपने एक बड़े समूह के साथ नवस्थापित सोशलिस्ट पार्टी में शामिल होकर उसे मजबूत बनाया। खासकर शाहाबाद जोन (भोजपुर-रोहतास) लोहिया की नई पार्टी का गढ़ बन गया था। वरसी जी की कर्मठता, त्याग व सच्चाई को देखकर डा० लोहिया ने इन्हें 'पीरो के गांधी' उपाधि से विभूषित किया था।

डा० लोहिया के निधन के बाद 70 दशक में तत्कालीन संसोपा नेताओं में आई सैद्धांतिक गिरावट के पर्दाफाश के लिए जब किशन जी ने लोहिया विचार मंच बनाया तो इसके संस्थापकों में वरसी जी भी थे। किशन जी के आह्वान पर मंच के सदस्यों ने जे.पी. आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। वरसी जी भी आपातकाल के दौरान मिसा के तहत लंबे समय तक जेल में रहे।

1980 में जनता पार्टी की टूट तथा देश के सारे स्थापित दलों के अप्रासंगिक हो जाने पर वरसी जी ने समाज वादी विचारक किशन पटनायक के साथ वैकल्पिक राजनीति के निर्माण का अभियान चलाया। इसी प्रयास में 1980 में समता संगठन तथा 1995 में समाजवादी जन परिषद की स्थापना की गई थी। संस्थापकों में वरसी जी की भी अहम भूमिका थी।

जीवन के आखिरी दौर में वरसी जी किसानों तथा गाँवों पर बढ़ते जुल्म व शोषण से मर्माहत थे और ग्रामीणों व किसानों को स्वतंत्र ढंग से संगठित करने के लिए गाँव-गाँव में 'गाँव-संघ' बनाने का अभियान भी चलाया था– गर कार्यकताओं के अभाव में वह अभियान जोर न पकड़ सका। प्रस्ताव के आखिर में दूसरी चर्चा की गई है।

प्रस्ताव के अन्त में बताया गया है कि दिवंगत राम एकबाल वरसी के निधन को देश-समाज तथा समतावादी आंदोलन की अपूरणीय क्षति हुई है साथ ही देश में कई राजनैतिक समूहों द्वारा चलाये जा रहे वैकल्पिक राजनीति के निर्माण अभियान को भी गहरा धक्का लगा है।

शोक सभा के वक्ताओं की सूची निम्नवत है—

शिवपूजन सिंह, योगेन्द्र प्रसाद सिंह, रामप्वेश सिंह, राजीव रंजन सिंह, कालिका प्रसाद सिंह, शिवजी सिंह, सुरेश प्रसा, जब्बार हुसैन, जगधारी सिंह, नरसिंह मेहता, लालदास राय, चन्द्रेश्वर प्रसाद सिंह, शिव प्रसन्न सिंह, युगेश्वर सिंह, महेन्द्र दूबे, भाई वरमेश्वर, चंचल मुखर्जी, यादवेन्दु सिंह यादव

●

# क्या मोदी बने तुगलक ?

**आनंद कुमार यादव**

मध्यकालीन भारत के दिल्ली सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक (1325 से 1351 इस्वी) के बारे में 'दिल्ली से दौलताबाद' वाली बात हममें से बहुतों ने पढ़ी-सुनी होगी लेकिन 21वीं सदी के प्रजातंत्रीय भारत में भी फिर कोई तुगलक होगा, इतिहास के इस तरह दोहराए जाने की कल्पना शायद ही किसी ने की होगी! इतिहास में इस तुगलक को वैसे तो काफी पढ़े लिखे और दिमागदार सुल्तान के रूप में भी देखा जाता है परन्तु उसे याद रखा गया उन 'फरमानों' (आदेशों) के ही कारण जो एक सुल्तान की अधूरी समझ और आनन्-फानन में अपनाए गए अव्यावहारिक कार्यक्रमों के चलते शासन और जनता की समस्या का सबब बने। और किसी भी ऐसी नासमझ योजना या कार्यक्रम के लिए 'तुगलकी फरमान' शब्द उसका पर्याय बन गया। सुल्तान ने अपनी सल्तनत की समृद्धि, सुरक्षा और विस्तार के लिए चार योजनाएं अपनायीं और वो चारो ही बड़ी असफलता का शिकार हुयीं। पहली योजना सरकारी ख़जाने को भरने के लिए दो-आब में करों को बढ़ाने की थी। वह भी ऐसे समय लागू हुयी जब वहां भयंकर अकाल पड़ा था। सुल्तान ने जबरदस्ती कर वसूलने का फरमान जारी किया। नतीजा हुआ दो-आब में खेती और खेतिहर दोनों बर्बाद हो गए और खजाना भी नहीं भरा जा सका। दूसरी और बहुचर्चित योजना राजधानी दिल्ली से दक्कन की ओर दौलताबाद ले जाने की थी जो उसके विचार से पश्चिमोत्तर सीमान्त से हमेशा होने वाले हमलों से ज्यादा महफूज रहती। लेकिन इसके लिए सुल्तान ने दिल्ली की समूची आवाम को ही दौलताबाद कूच करने का फरमान जारी कर दिया। परिणाम हुआ अनेक लोगों ने भूख-प्यास और बिमारी से रास्ते में ही दम तोड़ दिया। दिल्ली उजाड़ हो गयी। उस दौर के लेखक बरनी ने बयान किया है कि, 'तबाही इतनी भयानक थी कि शहर की इमारतों, उसके महलों के आस-पास के क्षेत्रों में बिल्ली या कुत्ता तक दिखाई नहीं दिखाई दे रहा था। सुल्तान के आदेश पर खोज करने पर उसके गुलामों को बस एक लंगड़ा और एक अँधा व्यक्ति मिला। लंगड़े को मार दिया गया और अंधे को घसीटते हुए दौलताबाद ले जाया गया जहाँ उसकी केवल एक टांग ही पहुँच सकी'। दौलताबाद में पानी की कमी और अन्य परेशानियों को देखते हुए 14 साल बाद सुल्तान ने अपनी उसी बादशाही सनक के साथ फिर सबको दिल्ली वापस होने का फरमान सुना दिया। (याद करते चलें कि अंग्रेज भी 1911 में राजधानी कलकत्ता से दिल्ली लाए थे लेकिन उन्होंने कलकत्ता की आवाम का स्थानान्तरण नहीं किया था)। सुल्तान की तीसरी योजना सांकेतिक मुद्रा के प्रचलन से जुड़ी थी। सोने और चाँदी के सिक्कों के एवज में ताम्बे के सिक्के जारी करने चाहे। लेकिन सरकारी टकसाल से (मिन्ट) से ऐसा न कर पाने पर लोगों को खुद अपने सिक्के गढ़ लेने की छूट दे दी गयी। नतीजा हुआ कि लोगों ने अपने बर्तन तोड़कर सिक्के बनाने शुरू कर दिए। घबरा कर सुल्तान ने लोगों को अपने सिक्के टकसाल में जमा कर बदले में सोने और चांदी के सिक्के ले जाने का आदेश जारी कर दिया। सुल्तान की चौथी बड़ी योजना मध्य एशिया की ओर अभियान के लिए खुरासान पर हमले की थी। इसके लिए उसने 3,70,000 सैनिकों की एक फ़ौज खड़ी कर दी और उसे एक साल का अग्रिम वेतन भी दे दिया। यह अभियान तो आगे बढ़ा नहीं, हाँ सरकारी ख़जाना ज़रूर खाली हो गया।

क्या नोटबंदी और कैशलेस के प्रचार से सम्बंधित प्रधान मंत्री मोदी के फैसले ऐसे ही किसी फरमान की याद दिलाते हैं! इसी सन्दर्भ में 1989 में फ्रांस में दुनिया की पहली राजनीतिक क्रांति की पृष्ठभूमि की वह घटना भी याद हो आती है जब अकाल पीड़ित भूखी जनता के रोटी के लिए शोर करने पर साम्राग्यीं मारी आंत्वानेत ने बड़ी मासूमियत से कहा था, 'अगर रोटी नहीं है तो उनसे कहो केक और बिस्कुट खाएं'!

●

**चंचल मुखर्जी, पाण्डेय हवेली, वाराणसी-221001 द्वारा प्रकाशित एवं दी महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित**